

अंक : ११३

जनवरी-मार्च २०११

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका



कहानियां

सुशान्त सुप्रिय
रोशन वर्मा 'रोशन'
संजीव निगम
मुकुंद लाल
डॉ. स्वाति तिवारी

आमने-सामने

डॉ. स्वाति तिवारी

सागर-सीपी

चित्रा मुद्गल

१५
रूपये

जनवरी-मार्च २०११

(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक

डॉ. माधव सक्सेना “अरविंद”

संपादिका

मंजुश्री

संपादन सहयोग

प्रबोध कुमार गोविल

जय प्रकाश त्रिपाठी

अश्विनी कुमार मिश्र

हम्माद अहमद खान

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

● सदस्यता शुल्क ●

आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.,

वार्षिक : ५० रु.,

(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के

रूप में भी स्वीकार्य है)

कृपया सदस्यता शुल्क

चैक (कमीशन जोड़कर),

मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट द्वारा

केवल “कथाबिंब” के नाम ही भेजें.

● रचनाएं व शुल्क भेजने का पता ●

ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड,

देवनार, मुंबई-४०० ०८८.

फोन : २५५१ ५५४१, ९८१९१६२६४८

● न्यूयॉर्क संपर्क ●

Naresh Mittal, Gerard Pharmacy,
903 Gerard Avenue, Bronx NY 10452
Tel : 718-293-2285, 845-304-2414 (M)

● “कथाबिंब” वेबसाइट पर उपलब्ध ●
www.kathabimb.com

e-mail : kathabimb@yahoo.com

(कृपया रचनाएं भेजने के लिए ई-मेल का प्रयोग न करें.)

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.

कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु

१५ रु. के डाक टिकट अवश्य भेजें.

(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

- ॥ ७ ॥ कहानी कभी मरती नहीं / डॉ. सुशांत सुप्रिय
॥ १३ ॥ “उस रात समय वहीं था !” / रोशन वर्मा “रोशन”
॥ १७ ॥ बुलाकी / संजीव निगम
॥ २१ ॥ मौत का खेल / मुकुंद लाल
॥ २६ ॥ आजकल / डॉ. स्वाति तिवारी

लघुकथाएं

- ॥ ३४ ॥ देवी कृपा / नरेंद्र कौर छाबड़ा
॥ ३९ ॥ लोकतंत्र / सीताराम गुप्ता
॥ ४९ ॥ दर्द का अहसास / डॉ. वासुदेवन “शेष”
॥ ५० ॥ स्थानांतरण / वी. गोविंद शेनाय

गज़लें / कविताएं

- ॥ १६ ॥ गज़लें / मुकुंद कौशल
॥ २० ॥ गज़लें / अशोक “अंजुम” / अमर कांत निगम
॥ २५ ॥ काशीनाथ सिंह मुंबई में... / “अन्वेषी”
॥ ४२ ॥ कविताएं / संतोष कुमार तिवारी
॥ ४९ ॥ गज़ल / रमेश प्रसून
॥ ५० ॥ कविता / श्याम गोइन्का

स्तंभ

- ॥ २ ॥ “कुछ कही, कुछ अनकही”
॥ ४ ॥ लेटर बॉक्स
॥ ३१ ॥ “आमने-सामने” / डॉ. स्वाति तिवारी
॥ ३५ ॥ “सागर-सीपी” / चित्रा मुद्गल
॥ ४० ॥ “बाइस्कोप” (सविता बजाज) / वेद राही
॥ ४३ ॥ पुस्तक-समीक्षाएं

आवरण चित्र : डॉ. अरविंद

विकिरण से प्रभावित एक बालिका का स्मारक (हिरोशिमा, जापान)

“कथाबिंब” मुंबई की “संस्कृति संरक्षण संस्था” के सौजन्य से प्रकाशित होती है.

कुछ कही, कुछ अनकही

एक मिशनरी भावना के तहत, वर्ष १९७९ में “कथाबिंब” का प्रकाशन शुरू किया गया था। वह ऐसा समय था जब एक-एक करके कई नामी-गिरामी पत्रिकाएं बंद हो रही थीं। बड़े-बड़े प्रकाशन-गृहों के लिए साहित्य बिकने वाली “वस्तु” नहीं थी। इसकी अपेक्षा में, राजनीति, फ़िल्म, पीत-पत्रिकारिता में कहीं ज़्यादा पैसा था। बीच-बीच में कुछ नयी पत्रिकाएं/लघुपत्रिकाएं बहुत धूम-धाम से शुरू होतीं पर चार, छः, आठ अंकों के बाद बंद हो जातीं। ऐसे विपरीत माहौल में, बिना किसी ख़ास अनुभव के, एक चुनौती के रूप में “कथाबिंब” प्रारंभ हुई। शुरू के एक-दो वर्षों तक हमने कोशिश की कि पत्रिका की अवधि द्वैमासिक रहे। पर शीघ्र ही समझ में आगया कि लंबे समय तक ऐसा कर पाना संभव नहीं होगा। यह संतोष का विषय है कि प्रारंभ से ही हमें रचनाकारों का पूर्ण सहयोग मिलता रहा है। कुछ वक़्त अवश्य लगा किंतु आज “कथाबिंब” के पास पाठकों का एक व्यापक वर्ग है। इसकी तसदीक हमें मिलने वाले पत्रों से बख़ूबी होती है। अंक में प्रकाशित रचनाओं को पढ़कर रचनाकारों को पत्र लिखने या फ़ोन पर रचना की प्रशंसा करने वाले पाठकों की संख्या भी कम नहीं रहती। आज “कथाबिंब” के आजीवन सदस्यों की संख्या लगभग २५० के आसपास है। हम सभी सहयोगी रचनाकारों और पत्रिका के पाठकों का हृदय से आभार प्रगट करना चाहते हैं और कामना करते हैं कि आगे भी आप सबका सहकार मिलता रहेगा।

अब इस अंक की कहानियों का ट्रेलर – पहली कहानी “कहानी कभी नहीं मरती” बहुत तेज़ी से उभरते हुए कथाकार सुशांत सुप्रिय की प्रस्तुति है – छब्बे पा’ के पास अद्भुत कहानियों का खज़ाना था। ये कहानियां उनके पास लक्कड़दादा-फक्कड़दादा-पड़दादा से होती हुई पहुंची थीं। कहानियों का यह सिलसिला एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक यूं ही आगे चलता रहता है – हर पीढ़ी के साथ एक नयी कहानी चलती है – कहानी कभी मरती नहीं! अगली कहानी “उस रात ... समय वहीं था” के लेखक रोशन वर्मा “रौशन” का नाम “कथाबिंब” के पाठकों के लिए नया है। सारी उम्र हम नोस्टेल्जिया में जीते हैं। पुरानी यादें, पुरानी बातें हमारा पीछा नहीं छोड़तीं। ख़ास तौर से जब कोई पूरी तरह अकेला हो। तीसरी कहानी “बुलाकी” के लेखक संजीव निगम “कथाबिंब” के नियमित लेखक हैं। आजकल ख़ाप पंचायत के बारे में अक्सर सुनने में आता है। पंचायत तक तो बात बाद में पहुंचती है, परिवार वाले भी, लड़के या लड़की के दूसरी जाति में विवाह को नहीं स्वीकारते। बुलाकी नीची जाति का है। उसका लड़का शादी कर के ब्राह्मण लड़की को घर ले आता है। लेकिन यहीं पर सारे समीकरण गड़बड़ा जाते हैं। पर शीघ्र ही उलझन सुधर भी जाती है। अगली कहानी में मुकुंद लाल (“माँत का खेल”) ने एक ऐसे आदमी की तस्वीर पेश की है जिसके पास अपना और अपनी वृद्ध पत्नी का पेट पालने का कोई जरिया शेष नहीं रहा है। वह कुशकाय है, कोई काम नहीं कर सकता। विडंबना तो यह है कि तमाम सरकारी योजनाओं के चलते हुए भी आज ऐसे “आम आदमियों” की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। आजकल वैश्वीकरण के कारण, चाहते न चाहते, हम सबके जीवन पर पश्चिम का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। कभी-कभी, भावनाओं में बहकर, स्वछंद जीवन जीने की इच्छा के कारण, बिना-आगा पीछे सोचे युवक-युवती विवाह का बंधन नकार कर साथ-साथ रहने का निर्णय ले लेते हैं। लेकिन बहुत जल्दी उनके सम्मुख कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होने लगते हैं जिनका उत्तर खोजना आसान नहीं होता। अंक की अंतिम कहानी “आजकल” में डॉ. स्वाति तिवारी लिव-इन रिलेशनशिप से उपजी समस्याओं से हमारा साक्षात्कार करा रही हैं।

पिछले दो-तीन महीने विश्व के अनेक राष्ट्रों के लिए बहुत उथल-पुथल वाले रहे। मिस्र, तुर्की, सीरिया, लीबिया – कई देशों में सत्ता परिवर्तन की मांगें उठ रही हैं। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षतः हर जगह अमरीका हस्तक्षेप कर रहा है। हमेशा की तरह संयुक्त राष्ट्र संघ और कुछ राष्ट्र इस दादागिरी में अमरीका की सहायता कर रहे हैं। “लड़ाई” लंबी चलने के आसार नज़र आ रहे हैं। ऊंट किस करवट बैठेगा इसके बारे में फिलहाल कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी दौरान, ११ मार्च को एक बार फिर जापान की धरती कांप उठी। जापान के लिए पिछले सौ सालों में यह तीसरा बड़ा हादसा था। १९२३ में, कैंटों (जापान) के भूकंप में १,४३,००० लोगों की मृत्यु हुई थी। इसी समय तलवारधारी जापानी कोरिया से आये अप्रवासियों का कत्लेआम करने लगे। धीरे-धीरे पुनर्निर्माण का काम शुरू हुआ। अभी जापान पूरी तरह उभर भी नहीं पाया था कि अगस्त १९४५ में, अपनी न्यूक्लीय शक्ति का परीक्षण करने के लिए अमरीका ने हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम डाले। उच्च ताप और विस्फोट का कुप्रभाव यह हुआ कि २ किमी. व्यास में सभी इमारतें जल गयीं या ध्वस्त हो गयीं। अगले चार महीनों में, दिसंबर १९४५ तक न्यूक्लीय विकिरण की वजह से लगभग डेढ़ लाख लोग मृत्यु की गोद में सो गये। हिरोशिमा में जिस स्थान पर बम गिरा था वहां आज भी ध्वस्त इमारतों को देखा जा सकता है। पास ही एक “शांति स्मारक” है जिसमें विनाश की यादों को संजोकर रखा गया है ताकि पर्यटक उस समय की विभीषिका का अच्छी तरह

साक्षात्कार कर सकें. २००७ में शोधकार्य के सिलसिले में मुझे जापान के ओकोयामा विश्व-विद्यालय जाने का अवसर मिला. १९ मार्च २००७ को एक संगोष्ठी के लिए तायवान से आये कुछ वैज्ञानिकों के साथ मुझे हिरोशिमा जाने का मौका मिला. स्मारक के प्रांगण में १४ वर्षीय बालिका की एक मूर्ति स्थित है. इस बालिका को अनेक प्रयासों के बाद भी विकिरण के दुष्प्रभावों से बचाया नहीं जा सका. मूर्ति (आवरण पृष्ठ) के चारों ओर कांच के कक्षों में बड़े-बड़े पक्षियों के बहुत सारे रंगीन पंख प्रदर्शित हैं. इन परों से कपड़े बना कर उस लड़की को पहनाये जाते थे. वहां, तब ऐसी मान्यता थी कि इससे विकिरण का प्रभाव खतम हो जायेगा.

तबसे अब तक, विज्ञान और विशेषतया न्यूक्लीय विज्ञान ने काफ़ी तरक्की कर ली है. वर्तमान में, दोनों ही मानव कल्याण व विनाश के लिए न्यूक्लीय ऊर्जा का उपयोग हो रहा है. किंतु जनसामान्य में आज भी यह जानकारी नहीं है कि परमाणु बम के विस्फोट के समय निकला विकिरण या किसी न्यूक्लीय रिएक्टर दुर्घटना में “रिलीज़” हुआ विकिरण कितना विनाशकारी हो सकता है. दोनों ही स्थितियों में यूरेनियम के विखंडनशील समस्थानिक (आइसोटोप) के परमाणुओं में न्यूट्रॉनों से श्रृंखला-प्रतिक्रिया संपन्न करवायी जाती है. इस प्रतिक्रिया में, सर्वप्रथम एक न्यूट्रॉन यूरेनियम के एक परमाणु को दो रेडियोसक्रिय नये तत्वों में विभाजित करता है, जो विकिरणशील होते हैं और कुछ तापीय ऊर्जा निकलती है, साथ में २ या ३ न्यूट्रॉन पैदा होते हैं. ये नये न्यूट्रॉन अन्य परमाणुओं का विखंडन करते हैं. इस तरह सेकंड से भी बहुत कम समय में एक चेन-रिएक्शन प्रारंभ हो जाता है. परमाणु बम विस्फोट में चेन-रिएक्शन पर कोई नियंत्रण नहीं होता जबकि न्यूक्लीय रिएक्टरों में न्यूट्रॉनों की संख्या पर अंकुश लगाकर, उत्पन्न तापीय ऊर्जा से वाष्प द्वारा टरबाइन चलाकर बिजली पैदा की जाती है. संक्षेप में हम यह समझ लें कि विकिरण तीन प्रकार का होता है : एल्फा, बीटा और गामा. गामा-विकिरण सबसे खतरनाक होता है. इसकी विभेदन क्षमता सबसे अधिक होती है और यह मात्र सीसे (लेड) के पतरों या उससे बने परिधानों से रोका जा सकता है. विखंडन में बहुत सारे ऐसे रेडियोसक्रिय तत्व (परमाणु) उत्पन्न होते हैं जो सामान्यतया प्रकृति में नहीं पाये जाते और हजारों सालों तक गामा-विकिरण उत्सर्जित करते रहते हैं. रिएक्टर में इस्तेमाल के बाद ईंधन-छड़ों को पानी से भरे टैंकों में या धरती के अंदर दफ़नाया जाता है. जापान छोटे-बड़े हजारों द्वीपों का देश है. भूकंप आना सामान्य घटना है. वहां कोई भी बड़ी नदी नहीं है. विपरीत भौगोलिक परिस्थितियों के कारण बिजली की आपूर्ति हेतु संभवतः न्यूक्लीय ऊर्जा पर ही निर्भर करना ज़रूरी हो सकता है. वहां भी ५० रिएक्टरों में २० बंद पड़े हैं. ११ मार्च २००७ को फुकुशिमा में आया भूकंप इतिहास का सबसे विनाशकारी भूकंप है. समुद्र में भूकंप से उठी सुनामी (यह जापानी शब्द है) लहरों ने प्रलय का रूप धारण कर लिया. बहुत बड़े इलाके में कुछ भी शेष नहीं रहा. घर, आदमी, मवेशी, कारें सब इस जलजले में बह गये. रिएक्टरों की शीतलन प्रणाली नष्ट हो जाने और मेल्ट-डॉउन से कितना विकिरण हवा और समुद्री पानी में पहुंचा इसकी सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है. यह विकिरण दुनिया के अन्य देशों को भविष्य में कैसे प्रभावित करेगा यह आने वाला समय ही बतायेगा. विडंबना यह है कि ऐसी दुर्घटनाओं के बाद समाचारों पर रोक लगा दी जाती है. १९७६ में श्री माइल आइलैंड रिएक्टर दुर्घटना के बाद से अमरीका ने एक भी न्यूक्लीय रिएक्टर नहीं लगाया है. वहां क्या हुआ इसके बारे में मात्र छुटपुट जानकारी उपलब्ध है. दूसरा बड़ा हादसा रूस (यूक्रेन) में चेर्नोबिल में हुआ, जब एक परीक्षण के दौरान रिएक्टर क्रोड में विस्फोट हो गया. आज २५ सालों बाद भी वहां एक बहुत बड़े क्षेत्र में जाने की पाबंदी है. आज भी वहां के वैज्ञानिक विकिरण संबंधी अध्ययन कर रहे हैं. ये सभी दुर्घटनाएं न्यूक्लीय वैज्ञानिकों के दावों को सरासर झुटलाती हैं कि न्यूक्लीय ऊर्जा का उपयोग सर्वथा सुरक्षित है और यह पूरी तरह “ग्रीन” है. कोयला, तेल जैसे जीवाश्मी ईंधनों (फ़ॉसिल फ्यूएल्स) के बारे में कहा जाता है कि ४०-५० वर्षों में समाप्त हो जायेंगे. किंतु क्या यूरेनियम के भंडार असीमित हैं ? १००-२०० सालों में ये भी खतम हो जायेंगे. फिर उसके पश्चात क्या ? कहां से हम ऊर्जा की अपनी आवश्यकताओं को पूरा करेंगे. संपूर्ण विश्व में अनेकों जगह बंद पड़े न्यूक्लीय रिएक्टर होंगे और साथ में होंगे रेडियोसक्रिय पदार्थों के क़ब्रिस्तान.

अन्य देशों की तुलना में भारत की भौगोलिक और राजनीतिक परिस्थितियां भिन्न हैं. देश की सीमाओं की सुरक्षा में हमें अपनी सेना को हमेशा ही तैनात रखना है. चीन और पाकिस्तान से हमें सदैव सतर्क रहना है. चीन के पास दूर की मार करने वाले मिसाइल हैं जिन्हें हमारे न्यूक्लीय ठिकानों पर कभी भी डाला जा सकता है. प्रश्न एक जैतापुर का नहीं होना चाहिए. भारत के परिप्रेक्ष्य में बिजली की हमारी आवश्यकताओं के लिए न्यूक्लीय ऊर्जा विकल्प हो ही नहीं सकता. जनहित लोकपाल बिल की तरह राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों, “सिविल-सोसायटी” के बुद्धिजीवियों - साहित्यकारों, एन जी ओ के लोगों को लेकर एक समिति बनानी चाहिए जो सभी पहलुओं पर विचार करे. हिरोशिमा-नागासाकी, श्री-माइल आइलैंड, चेर्नोबिल और अब फुकुशिमा के अनुभवों से भी गर हम कुछ नहीं सीख पाये तो नियति हमें माफ़ नहीं करेगी. आखिर हम कब तक प्रकृति से खिलवाड़ करते रहेंगे!

अर्द्ध

लेटर बॉक्स

❖ 'कथाबिंब' का 'अक्तू.-दिसं. २०१०' अंक मिला, धन्यवाद! अच्छा लगा कि आपने पत्रिका के स्तर को बनाये रखा है. चूंकि 'कथाबिंब' एक साहित्यिक पत्रिका है, इसलिए यदि संपादकीय में एक पैरा देश की साहित्यिक उठा-पटक, गतिविधियों पर खरी-खरी बात कहने वाला हो तो इसे और रुचि लेकर पढ़ा जायेगा. प्रस्तुत अंक में गोपालदास 'नीरज' के दोहे, डॉ. सतीश दुबे की कहानी 'एक परिचय, अंतहीन', सविता बजाज का 'बाइस्कोप', 'सागर/सीपी' विशेष उल्लेखनीय रचनाएं हैं. नीरज जी के दोहे तो दिल को छू लेने वाले हैं. भविष्य में 'लघुकथा विशेषांक' प्रकाशित करने पर भी आप विचार कर सकते हैं.

मुकेश शर्मा

✉ म.नं. १४४५, से-४,
गुडगांव (हरि.)-१२२००६.

❖ मैं 'कथाबिंब' का नियमित पाठक हूँ. 'कथाबिंब' १९७९ से नियमित प्रकाशित हो रही है. आपका यह प्रयास हिंदी साहित्य के क्षेत्र में एक अनुकरणीय प्रयास है, जिससे व्यवसायिक भावना से ओतप्रोत प्रकाशकों एवं संपादकों को एक सीख लेनी चाहिए. ऐसा इसलिए कि हिंदी साहित्य की कुछ प्रतिष्ठित पत्रिकाओं का जो विज्ञापनमय स्वरूप देखने को मिलता है, उसे देखकर हम 'कथाबिंब' का स्वच्छ एवं कम से कम विज्ञापन का चेहरा अवश्य हिंदी साहित्य के प्रेमियों के मध्य दिखाने का प्रयास कर सकते हैं.

मगर मुझे एक शिकायत है- 'कथाबिंब' से. 'कथाबिंब' नवोदित रचनाकारों को खासकर कथा/कहानी लेखन में मार्गदर्शन का काम नहीं कर रही है. जबकि भारतीय परंपरा में परंपरा का निर्वाह तभी होने की बात कही गयी है जब 'पुत्रात् शिष्यात् पराजय' को ध्यान में रखकर कोई कार्य किया जाये. इसके लिए मेरा आग्रह है कि आप नवोदित रचनाकारों को कहानी और कविता कैसे लिखी जाती है के लिए एक स्तंभ प्रकाशित करें. नवोदित रचनाकारों को उनके लेखन के लिए यह कहकर उन्हें हतोत्साहित कर देना कि आप को लिखना नहीं

आ रहा है, कितना उचित है! यह मैं प्रबुद्ध हिंदी प्रेमियों की ओर से एक प्रश्न के रूप में रख रहा हूँ.

'कहानी' लेखन में नवोदितों को मार्गदर्शन दें अपनी 'कथाबिंब' के माध्यम से. परंपरा चलती रहे इसके लिए नयी पीढ़ी को तैयार करने का कार्य प्रौढ़ हो चुकी 'कथाबिंब' कुशलता पूर्वक कर सकती है यह मेरा पूर्ण विश्वास है.

'कथाबिंब' का अक्तू.-दिसं. '१० अंक आद्योपांत पढ़ा. डॉ. सतीश दुबे, डॉ. अनुज प्रभात एवं डॉ. इला प्रसाद की कहानियां पढ़ने के बाद मुझे लगा कि नयी पीढ़ी भी इनके कार्य को आगे बढ़ाये और इन्हीं भावों को अपने अंदर समेटकर यह भावपूर्ण निवेदन आपके समक्ष रख रहा हूँ.

अरविंद कुमार पाठक

✉ ४८/११, ग्रसिम स्टॉफ कालोनी,
उज्जैन-४५६३३१

❖ 'कथाबिंब' का अक्तू.-दिसं. २०१० अंक प्राप्त हुआ. आपकी बात पूर्णतया सत्य व सटीक है कि हर बात को लेकर हमारे दोहरे मापदंड हैं. यूं तो पांचों कहानियां बहुत अच्छी हैं, लेकिन 'नील पाखी' और 'कर्जा वसूली' दिल को छू जाती हैं. 'संस्कृति संरक्षण संस्था' परिशिष्ट की सभी रचनाएं बहुत अच्छी हैं. इतना अच्छा और मनभावन अंक निकालने के लिए साधुवाद स्वीकारें.

किशनलाल शर्मा

✉ १०३, राम स्वरूप कॉलोनी,
आगरा-२८२०१०

❖ 'कथाबिंब' अक्तू.दिसं. २०१० का अंक मिला. मुद्दत बाद 'कुछ कही, कुछ अनकही' पढ़ा. मन अघा गया. इस अंक की कहानियों के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी पढ़ने के बाद मन हुआ कि डॉ. अनुज प्रभात की 'नील पाखी' पढ़ूं. पढ़ना शुरू किया तो पढ़ता, चिंतन करता, डूबता-उतराता और भाषा प्रवाह में प्रवहमान होता चला गया. एक अच्छी कहानी पढ़ने को मिली. लगा कि ऐसी

कहानी तो मैंने भी लिखी है, शायद 'एक और प्रेरणा' पर 'नील पाखी' सशक्त लेखनी की पहचान लगी. कविकुल श्रेष्ठ श्री गोपाल दास 'नीरज' के दिल मोहने वाले ग्यारह दोहे काफ़ी प्रेरक व मारक लगे. डॉ. नीरज वर्मा की दोनों गज़लें छंदशास्त्रीय दृष्टिकोण से मानक लगीं. 'सागर-सीपी' ठीक-ठाक रही. बाकी रचना-रत्नों को बारीकी से तौलूंगा. देखें कितने कैरेट के हैं. उम्मीद है संपादक महोदय की तरह मैं भी निष्पक्ष समीक्षा कर कहीं अन्यत्र इनकी चर्चा करूंगा.

तारकेश्वर शर्मा 'विकास'

✉ मंडल रेल प्रबंधक (राजभाषा) कार्यालय,
द. पू. रेलवे, खड़गपुर-७२१३०१

❖ 'कथाबिंब' का ११२ अंक मिला. कार्यालयीन व्यस्तता के बावजूद दो बैठकों में पूरी पत्रिका पढ़ डाली. पांचों कहानियां शिल्प, कथ्य व बुनावट के स्तर पर खरी उतरती हैं. लघुकथाएं, दोहे, गज़लें एवं कविताएं भी अच्छी लगीं. आपका संपादकीय हमेशा की तरह देश की ज्वलंत समस्याओं पर गहरी चिंता व्यक्त करता है. केंद्र सरकार की नाकामियां सर चढ़ कर बोल रही हैं. जिसमें नेताओं द्वारा एक से बढ़कर एक घोटाले. अफ़जल को फांसी नहीं देना. कसाब की सुरक्षा पर करोड़ों रुपये खर्च करना. महंगाई डायन का पंजा आसमान को भेदना, आदि... आदि. अंक की सबसे बड़ी कमी आत्मरचना का नहीं होना खली.

अर्जुनसिंह 'अंतिम'

✉ सती विहार, धामनोद,
जिला-धार (म.प्र.)-४५४५५२

❖ अक्तू.-दिसं. २०१० के अंक में संपादकीय, 'कुछ कही, कुछ अनकही' में आपने देश के हालात और परिस्थितियों को जिस रूप में रखा है विचारणीय है. नीरा राडिया की ३०० करोड़ की संपत्ति हो, शरद पवार का बयान, 'महंगाई रोकना उनका काम नहीं', या फिर आंतरिक सुरक्षा के मुद्दे पर सरकार की विफलता का प्रश्न अथवा अरुंधती राय का बयान, 'कश्मीर भारत का हिस्सा नहीं', सभी कुछ वर्तमान में एक भारतीय नागरिक को सोचने के लिए विवश करता है. सवाल यह है कि कितने लोग सोचते हैं ? सोचना तो लोगों ने छोड़ दिया है, बस रह गया है व्यक्तिवाद और सत्तावाद.

किंतु आपने जिस तरह से इन विषयों को उठाया है, वह अवश्य पाठक को कौंधा कर सोचने पर विवश करेगा. एक बात और आपके शब्द 'भगवा आतंकवाद', 'हरा आतंकवाद' आदि भी लोगों को सोचने के लिए विवश करेंगे. तात्पर्य यह कि संपादकीय प्रशंसनीय है और भविष्य में ऐसी ही अपेक्षा बनी रहेगी.

डॉ. अनुज प्रभात

✉ दीनदयाल चौक.,

फारबिसगंज, अररिया-८५४३१८

❖ अक्तूबर-दिसंबर अंक के संपादकीय के लिए आपको बधाई. इतने बेबाक शब्दों में आपने देश की मौजूदा आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों का चित्रण किया है, जो व्यक्ति के अंतर्मन को झकझोर देता है. आज घिसटते हुए प्रशासन को ऐसे ही मज़बूत मीडिया की आवश्यकता है. लघुकथा 'प्लीज़ सेव मी', तथा कहानी 'पांचवीं कथा', आज भी असुरक्षितता के एहसास से घिरे महिला समुदाय की स्थितियों को उजागर करती हैं. साथ ही 'कर्जा वसूली' आज भी व्यक्ति के एहसासों पर कतिपय व्यावसायिक, आर्थिक स्थितियों जनित मजबूरी को अभिव्यक्त करती है. वह इस एहसास को भोगता है कि जबरन वसूली करके सिर्फ अपना भला किया है, जन सामान्य का नहीं.

सुधा वर्मा

✉ के-५०२/३, फ़ेज-१४, न्यू गोल्डेन नेस्ट,
भायंदर (पू.), मुंबई-४०११०५

❖ मेयारी साहित्यिक पत्रिका 'कथाबिंब' अक्तू. दिसं. २०१० का ख़ूबसूरत-ख़ूबसीरत अंक प्राप्त हुआ. इस अंक की गज़लें, कविताएं, कहानियां, लघुकथाएं, दोहे पठनीय हैं. आपका विचारपूर्ण संपादकीय हक़-ब-जानिब, काबिले-गौरो-फ़िक्र एवं संग्रहणीय है. आप सेवा भाव से 'कथाबिंब' प्रकाशित करते हैं. 'न सिले की आरजू, न सताइश की तमन्ना!' ईश्वर आप का भला करे.

डॉ. नसीम अख़्तर

✉ जे ४/५९, गुलशाने-अब्रार,
हंस तले, वाराणसी-२२१००१

❖ 'कथाबिंब' का ११२वां अंक प्राप्त हुआ. कथाबिंब के अंक मुझे सही समय पर प्राप्त होते रहे हैं.

कथाबिंब/ जनवरी-मार्च २०११ ॥५॥

अब तो हर अंक की प्रतीक्षा रहती है। आपकी संपादन कुशलता के समक्ष नतमस्तक हूँ। आपके इसी समर्पण भाव ने पत्रिका को ऐसा सजा दिया है कि इसने पाठकों के हृदय में अपना स्थायी स्थान बना लिया है।

संपादकीय लेख में देश की स्थितियों पर आपकी सटीक टिप्पणियां मन को गहरे तक स्पर्श करती हैं। सविता बजाज के साक्षात्कार जहां जीवंत होते हैं वहीं कहानियों व ग़ज़लों का चयन भी पत्रिका को एक अलग स्वरूप प्रदान करता है। मेरे विचार से इस पत्रिका का सर्वाधिक आकर्षक स्तंभ है 'आत्मकथ्य'। आपको हार्दिक बधाई विशेषकर आवरण चित्रों के लिए भी।

मुकुंद कौशल

✉ एम-५१६ पद्मनाभपुर,
दुर्ग (छ.ग.) -४९१००१

❖ 'कुछ कही, कुछ अनकही', तो हमेशा ही दिल को छू लेने वाला होता है। नया अंक प्राप्त होते ही सर्वप्रथम उसी को पढ़ने की तीव्र उत्सुकता रहती है, किंतु इस बार के आप के उदगार (अंक ११२) पढ़कर तो ऐसा लगा जैसे आपने वर्तमान परिदृश्य पर हमारे अपने आक्रोश, पीड़ा और बेबसी को अक्षरशः हमारी ही भावनाओं के अनुरूप, ठीक-ठीक अभिव्यक्त कर दिया हो। जैसे हमारे ही मन की सारी भड़ास आपने निकाल कर रख दी हो। हर ज्वलंत मुद्दे पर आपने सटीक टिप्पणी की है। इन दिनों मुद्दे भी तो एक के बाद एक उजागर हुए हैं और एक से बढ़कर एक शर्मनाक और घिनौने! क्या नैतिकता का अंत ही हो गया है? बहरहाल मेरा विनम्र साधुवाद और कामना कि अल्लाह करे ज़ोर-ए-कलम और ज़्यादा।

ओमप्रकाश बजाज

✉ बी-२, गगन बिहार, गुप्तेश्वर,
जबलपुर (म. प्र.)-४८२००१

❖ 'कथाबिंब' के अक्टू.दिसं.२०११ अंक की पांचों कहानियां अच्छी और मार्मिक लगीं। संवेदनहीनता और संवेदनशीलता के द्वंद्वों में समाज की विडंबनाएं और व्यक्ति की त्रासदी को व्यक्त करती- 'कर्जा वसूली', रमेश यादव, और 'पांचवीं कथा'- डॉ. निरुपमा राय की कहानी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हालांकि 'एक परिचय अंतहीन'- डॉ. सतीश दुबे और 'जन्मदिन

मुबारक',- डॉ. इला प्रसाद, त्रासद कथा न होकर भी सामान्य रूप से रोचक और भावपूर्ण हैं। डॉ. अनुज प्रभात की कहानी- 'नील पाखी' भी द्रवित करने में समक्ष है। एक साथ ऐसी पांच अच्छी कहानियों के लिए कहानीकारों और आपको भी बधाई!

केशव शरण

✉ एस-२/५६४, सिकरौल,
वाराणसी-२२१००२

❖ अरसे से 'कथाबिंब' देख-पढ़ रहा हूँ। रचनाओं तथा प्रस्तुति की स्तरीयता अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आप बधाई के पात्र हैं। ११२वां अंक भी अपनी वही मिठास व सोंधापन लिये हुए प्रस्तुत हुआ। रमेश यादव की 'कर्जा-वसूली' और डॉ. इला प्रसाद की 'जन्मदिन मुबारक' बेहतरीन कहानियां लगीं; खासकर कथ्य और शिल्प की दृष्टि से। लघुकहानियां भी ज़ोरदार रहीं और कविताओं के तो क्या कहने! नीरज के दोहे बेहद पसंद आये। 'परिशिष्ट' की बाल-कविताएं भी प्रशंसनीय हैं। 'फॉन्ट साइज' थोड़ा कम कर सकें तो इतने ही पृष्ठों में कुछ और स्तरीय सामग्री पढ़ने को मिल सकेगी। अलबत्ता समग्र रूप से आपको साधुवाद!

डॉ. अमरीश सिन्हा

✉ ए-१०३, सच्चिदानंद रहेजा कॉम्प्लेक्स,
मलाड (पू.), मुंबई-४०००९७.

❖ आपकी 'दिलकश' एवं स्तरीय त्रैमासिक पत्रिका 'कथाबिंब' प्राप्त हुई। लघु पत्रिकाओं की लंबी कतार में भी यह आसानी से पहचान ली जायेगी। रचनाओं के चयन में भी आपकी मशशाकी लायक-दीद है। आपने स्तर से कहीं भी समझौता नहीं किया है।

कहानियों में डॉ.सुधा ओम ढींगरा की कहानी फंदा क्यों...? सामयिक और पुर-असर है। उन्हें मेरी बहुत-बहुत मुबारकबाद! चंद्र मोहन प्रधान और सुरेंद्र अंचल की कहानियों के तेवर भी ग़ज़ब के हैं। राजेंद्र तिवारी, नूर मुहम्मद 'नूर' और सलीम अख्तर की ग़ज़लें ख़ुब हैं। स्तंभ 'आमने-सामने' को जारी रखें। आपका संपादकीय भी बेहद पसंद आया।

मनाज़िर हसन 'शाहीन'

✉ मिडिल स्कूल, लक्ष्मीपुर
वाया : चाकंद, गया-८०४४०४

कहानी कभी नहीं मरती

उसके लिए जो नहीं होते हुए भी स्मृति में दस्तक-सा,
धूप में ऊष्मा-सा, अहसास में स्पर्श-सा हर पल है -
अपने नहींपन में भी अपने होने का स्थान लेता हुआ.

वे खुद भी एक कहानी थे. एक लंबी कहानी. और उनके भीतर मौजूद थीं... अनगिनत कहानियां. क्या वे क्रिस्से-कहानियों की खेती करते हैं - हम सारे बच्चे अक्सर हैरान हो कर यह सोचते.

छबे पा' जी के पास अद्भुत कहानियों का खजाना था. हालांकि वे हम बच्चों के पिता की उम्र के थे लेकिन गली में सभी उन्हें पा' जी (भैया) ही कहते थे. प्याज़ की परतों की तरह उनकी हर कहानी के भीतर कई कहानियां छिपी होतीं. अविश्वसनीय कथाएं. उनसे कहानियां सुनते-सुनते हम बच्चे किसी और ही ग्रह-नक्षत्र पर चले जाते. आवाक और मंत्रमुग्ध हो कर हम उनकी कहानियों की दुनिया में गुम हो जाते. उनके शब्दों के जादू में खो जाते. परियां, जिन्न, भूत-प्रेत, देवी-देवता, राक्षस-चुड़ैल - उनके कहने पर ये सब हमारी आंखों के सामने प्रकट होते या गायब हो जाते. छबे पा' जी की एक आवाज़ पर असंभव संभव हो जाता. मौसम करवट बदल लेता. दिशाएं झूम उठतीं. प्रकृति मेहरबान हो जाती. बुराई घुटने टेक देती. शंकाएं भाप बन कर उड़ जातीं.

छबे पा' जी की कहानियां पंचतंत्र से महाभारत तक, रामायण से अलिफ़-लैला तक फैली होतीं. हीर-रांझा, मिरजा साहिबां, सस्सी पुन्नू, सोहनी महीवाल, पूरन भगत, राजा रसालू, दुल्ला भट्टी, जीऊणा मौड़ और कैमा मलकी के क्रिस्से उन्हें ऐसे कंठस्थ थे जैसे बच्चे को दो का पहाड़ा रटा होता है. लेकिन इनसे भी ज्यादा रोचक वे कहानियां होतीं जिनके स्रोत हम बड़े होने के बाद भी नहीं जान पाये. क्या वे अद्भुत कहानियां उन्होंने खुद गढ़ी थीं?

कभी-कभी छबे पा' जी कुछ दिनों के लिए अपने गांव चले जाते. उनका गांव अमृतसर शहर से पंद्रह-

बीस किलोमीटर दूर था. तब मुझे उनकी कमी बहुत शिद्दत से खलती क्योंकि तब मैं उनकी अद्भुत कहानियां सुनने से वंचित रह जाता. तब मैं कल्पना करता कि काश, कहानियां पेड़ों पर फलों की तरह उगतीं. यदि ऐसा होता तो हम सब बच्चे उन्हें पेड़ों से तोड़-तोड़ कर उनका ख़ूब स्वाद लेते. किसी पेड़ पर एक तरह की कहानी तो किसी दूसरे पेड़ पर दूसरी तरह की कहानी. कहीं संतरा-कहानी तो कहीं अमरूद-कहानी.

किसी कहानी में कोई पात्र हंस रहा होता और हम वह कहानी पेड़ से तोड़ लेते तो दिन भर कहानी के उस हंसते हुए पात्र को देख-देख कर हम भी हंसते रहते. यदि इस अवस्था में लोग मुझे देख लेते तो यही सोचते न कि वर्मा जी का लड़का पागल हो गया है. अकारण ही हंसता जा रहा है. वह भी आज के ज़माने में जब कुछ पल हंसने के लिए भी बहाना ढूँढना पड़ता है. यदि तोड़ी हुई कहानी का हंसता हुआ पात्र मुझे भी

// सुशांत सुप्रिय //

इस तरह हंसता हुआ देख कर कहीं मुझे कहानी के भीतर आ जाने का न्योता दे देता तो मैं क्या करता? यदि मैं कहानी में चला जाता तो घर-परिवार वाले मुझे ढूँढते फिरते. यदि मैं कहानी में जाने से मना कर देता तो हो सकता था कि उस कहानी के हंसते हुए पात्र की हंसी गायब हो जाती या वह पात्र बुरा मान जाता. यह तो उस कहानी के पात्र का अपमान होता. ऐसी उलझन की स्थिति में मैं क्या करता?

कई बार छबे पा' जी छुट्टी वाले दिन भी शहर में ही किसी काम से निकल जाते और रात तक घर नहीं लौटते. ऐसे में हम बच्चे सारा दिन उनकी राह देखते रहते. जब वे नहीं लौटते तो मैं सोचने लगता कि वे क्या कर रहे होंगे. ज़रूर वे सुबह-सुबह दरबार साहब (स्वर्ण मंदिर) गये होंगे. वहां गुरु ग्रंथ साहब के आगे माथा टेक कर उन्होंने गुरबाणी सुनी होगी. उन्होंने

सरोवर के पवित्र जल में स्नान किया होगा और दरबार साहब की परिक्रमा की होगी. उन्होंने अकाल तख्त के आगे भी माथा टेका होगा और पास ही कहीं बैठ कर उन्होंने कड़ाह प्रशाद का हलवा खाया होगा.

फिर दरबार साहब से बाहर आकर उन्होंने किसी ढाबे में बैठ कर छोले-भटूरे का नाश्ता किया होगा. किसी दुकान से उन्होंने पापड़-वड़ियां खरीदी होंगी. कटरा जैमल सिंह से कुछ कपड़े खरीदे होंगे. हॉल गेट में डी. ए. वी. कॉलेज के पीछे वाली गली में ज्ञान सिंह हलवाई की दुकान पर लस्सी पी होगी और गजरेला (गाजर का हलवा) खाया होगा. वहीं कहीं सड़क के किनारे खड़े किसी रेड़ीवाले से बढ़िया गजक ली होगी. फिर उन्होंने क्रिस्टल चौक से सॉफ्टी खायी होगी. लौटते हुए शायद वे पुतलीघर चौक पर उतरे होंगे. वहां सब्जी मंडी से उन्होंने सब्जियां ली होंगी. लेकिन इतना सारा सामान ले कर वे गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी तो यकीनन नहीं जा पाये होंगे. तब तो उन्हें थोड़ी ही देर में घर लौट आना चाहिए - मैं सोचता.

कभी-कभी ऐसा भी होता कि छबे पा' जी उदास लग रहे होते. जब वे उदास होते तो कई दिनों तक उदास ही रहते. हम बच्चे सोचने लग जाते कि उनकी उदासी का क्या कारण होगा. आज पीछे मुड़ कर देखता हूं तो समझ में आता है कि पुराने ज़माने में लोगों के पास हंसी का खज़ाना था. जितना चाहे हंस लो, वह भरा हुआ खज़ाना कभी ख़त्म नहीं होता था. हुआ यह होगा कि लक्कड़दादा-फक्कड़दादा-पड़दादा-दादा-बाप आदि से होता हुआ जब वह खज़ाना छबे पा' जी के पास पहुंचा होगा तो वह लगभग ख़ाली हो गया होगा. उसमें हंसी की शायद ही कोई दमड़ी बची होगी. हो-न-हो, छबे पा' जी उसी पुराने ख़ानदान के बेचारे वारिस होंगे जिनके ख़ाली हो चुके खज़ाने में अब केवल उदासी की अठनी बची होगी. लेकिन उस प्राचीन ख़ानदान के अगले वारिस छबे पा' जी के बेटे के पास क्या बचेगा? उनके बेटे सुरिंदर के खज़ाने में तो वह उदासी की अठनी भी नहीं होगी.

अक्सर छबे पा' जी गली में मंजी (खाट) डाल कर बैठ जाते. कभी हम बच्चे उनके साथ गली में बंटे (कंचे) खेलते, कभी छोटे-छोटे पत्थरों में डोर बांध कर एक-दूसरे से 'आ गुलाबो कांटियां' खेल रहे होते, कभी



सुशिल सुप्रिया

बी.ए. (अंग्रेज़ी) ऑनर्स, एम.ए. (अंग्रेज़ी),
एम.ए. (भाषा विज्ञान), एम. फ़िल. (अंग्रेज़ी)

प्रकाशन : देश की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं, कहानियां व अनुवाद-कार्य प्रकाशित. कविताएं व कहानियां पुरस्कृत, कई भाषाओं में अनूदित तथा आकाशवाणी दिल्ली से प्रसारित. 'कथाबिंब' द्वारा आयोजित कमलेश्वर स्मृति कथा पुरस्कार २००८ में सर्वश्रेष्ठ कहानी पुरस्कार प्राप्त. 'कथाबिंब' में प्रकाशित होने वाली यह तीसरी कहानी.

विशेष : डी. ए. वी. कॉलेज, जालंधर, में कुछ वर्ष (अंग्रेज़ी) व्याख्याता (१९९४-९६).

रुचि : गायन, शतरंज व टेबल-टेनिस का शौक. स्केचिंग में भी रुचि.

संप्रति : सरकारी सेवा में उच्चाधिकारी

वे हमें शतरंज खेलना सिखा रहे होते तो कभी हम उनके कोठे (छत) पर चढ़ कर उनकी क़यादत में पतंग उड़ा रहे होते. जब छबे पा' जी की पतंग किसी दूसरी पतंग को काट देती तो हम सारे बच्चे आई S, बो S काटा SS की आवाज़ चारो दिशाओं में फैला देते. छबे पा' जी बड़े कुशल पतंगबाज़ थे. उनकी मांझा डोर और पतंग उड़ाने की कलाकारी के चर्चे दूर-दूर तक थे. दूसरे पतंग उड़ाने वाले उनकी पतंग से पेंच लड़ाने से घबराते थे. लेकिन हम सारे बच्चे उन्हें आकाश में उड़ती बाकी सारी पतंगें काट देने के लिए उकसाते रहते थे.

हम छह-सात लड़के थे. मैं, करमजीत, बिट्टू, टीटू, बंटी, लवली और शाणा. छबे पा' जी का बेटा सुरिंदर और बेटा सिमरन हालांकि हम से उम्र में कई साल बड़े थे लेकिन वे भी खेल-कूद में हमारे साथ ही रहते. छबे पा' जी जब आस-पास उड़ती सारी पतंगें

काट देते और हम बच्चे दूसरे पतंग उड़ानेवालों की भी कटी पतंगें और काफ़ी डोर लूट लेते तब जा कर हमें चैन मिलता. फिर थोड़ी देर छबे पा' जी हमें पतंग उड़ाना सिखाते और पेंच लड़ाने की बारीकियां बताते. यह शिक्षा पतंग उड़ाने के 'क्रैश-कोर्स' जैसी होती. इसमें पिन्ना लपेटना, अक्खांदार, कन्नी डालना, ढील देना, हाथ मारना, हवा लगनी जैसे वाक्यांशों का खुल कर प्रयोग किया जाता.

जब हम बच्चे थक जाते, उसी समय चाई जी (छबे पा' जी की माता जी) हम सबके खाने के लिए गजक, रेवड़ियां और मूंगफली कोठे पर ले आतीं. साथ में छबे पा' जी के लिए अदरक और इलायची डाल कर बनायी गयी दूध-पत्ती होती. हम सब बच्चे चाई जी को 'पैरीं पैन्ना हां जी' (चरण-स्पर्श) कहते और उनसे 'जींदे रहो' का आशीर्वाद भी लेते.

फिर हम सब हाथ धोकर छबे पा' जी के पीछे पड़ जाते - "पा' जी, कहाणी सुनाओ."

हम बच्चों को छबे पा' जी से कहानी सुनने की लत लग गयी थी. यह एक तड़प एक धुन, एक जुनून की तरह थी.

"लै राजे, नेकी और पूछ-पूछ. आ जाओ भई, सारे बच्चेयो." छबे पा' जी की यह आवाज़ सुनते ही बीच समंदर में भटकता हमारा जहाज़ जैसे किनारे पर आ कर लंगर डाल लेता.

छबे पा' जी को इतनी कहानियां कैसे आती हैं, अक्सर हम बच्चे हैरान हो कर यह सोचते. दाढ़ी-मूछों के बीच मुस्कराते उनके सफ़ेद दांत मुझे आज भी याद हैं. वे हमेशा नीली पगड़ी पहनते थे.

"पुत्तर, नीला रंग आकाश का होता है. नीला रंग समंदर का होता है. बड़ा शांत रंग होता है यह. पर इस रंग में अथाह गहराई होती है. समझे?" वे कहते. इसीलिए उनके घर के पर्दों का रंग भी नीला था.

ज़रूर छबे पा' जी को ये सारी कहानियां चाई जी सुनाती होंगी - अक्सर हम बच्चे आपस में एक-दूसरे से कहते. चाई जी को देखना, उनसे बातें करना टाइम-मशीन में बैठ कर प्राचीन काल में चले जाने जैसा था. पीछे मुड़ कर देखने पर अब तो मुझे यही लगता है. उनकी एक-एक झुर्री में जैसे सैकड़ों साल बंद पड़े थे. उनके मुंह से निकला एक-एक शब्द एक आदिम गूँज

लिये होता. लेकिन उनकी गोद में बैठ कर बड़ा सुकून मिलता था.

दूसरी ओर छबे पा' जी का बेटा सुरिंदर था. उससे बात करना टाइम-मशीन में बैठ कर सुदूर भविष्य में निकल जाने जैसा था. पीछे मुड़ कर देखने पर अब मुझे यही लगता है. सुरिंदर हमेशा हेलीज़ कॉमेट, कॉमेट शूमेकर, बिग बैंग, रेडियो-टेलिस्कोप, ब्लैक-होल, रेड-स्टार आदि की बातें किया करता था. वह गुरु-नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर से ऐस्ट्रो-फ़िज़िक्स में एम.एस.सी. करना चाहता था. उसका सपना 'नासा' जा कर अंतरिक्ष-यात्राएं करने का था. लेकिन उस समय उसकी सारी बातें हम बच्चों को समझ नहीं आती थीं. हमारे लिए इतना ही बहुत था कि सुरिंदर छबे पा' जी का बेटा था. हालांकि कभी-कभी उसकी दूरबीन से मैं भी रात में आकाश के तारे देख लिया करता था.

छबे पा' जी की बेटा सिमरन तब सत्रह-अठारह बरस की थी. वह तीखे नैन-नक्शा, गंदमी रंग और भरी-पूरी गोलाइयों वाली सोहणी मुटियार (सुंदर युवती) थी. मुझे उसके साथ रहना, उससे बातें करना अच्छा लगता था. तब मैं बारह साल का हो गया था और साथ उठते-बैठते या खेलते-कूदते जब कभी मेरी नाक में उसकी युवा देह-गंध पड़ती तो मेरे भीतर एक नशा-सा छा जाता. तब मेरा मन हमेशा सिमरन के आस-पास ही रहने का करता.

कभी-कभी छबे पा' जी कुछ दिनों के लिए अमृतसर से पंद्रह-बीस किलोमीटर दूर अपने पुश्तैनी पिंड (गांव) 'चढ़दी कलां' चले जाते. एक बार स्कूल की छुट्टियों में ज़िद करके मैं भी उनके साथ चला गया. मेरे पिता छबे पा' जी के मित्र थे. लिहाज़ा छबे पा' जी के भरोसा दिलाने पर उन्होंने मुझे छबे पा' जी के साथ उनके गांव जाने की इजाज़त दे दी.

"आप फ़िकर ना करो जी, इसे कुछ नहीं होगा. ये मेरे पुत्तर जैसा है. सुरिंदर और सिमरन भी हैं ना साथ. हम सब इसका ख़याल रखेंगे," छबे पा' जी ने पिताजी के चेहरे पर चिंता की लकीरें देख कर हंसते हुए कहा था.

गांव में एक अपनापन होता है, एक जानी-पहचानी कशिश होती है जो शहर के अजनबीपन से बिल्कुल

अलग होती है. आज जब मैं पीछे मुड़ कर देखता हूँ तो यही लगता है.

जितने दिन मैं छबे पा' जी के गांव रहा, हम ट्यूब-वेल पर ही नहाते और खेतों में ही दोपहर की रोटी खाते. तब मैं पहली बार ट्रैक्टर पर चढ़ा था. लुंगी और कुर्ते में छबे पा' जी उस उम्र में भी बेहद आकर्षक लगते थे. जब वे अपनी बांह मोड़ते थे तो उनके बाजू में मछलियां बनती थीं. वे लंबे, तगड़े जाट सिख थे. उनके चौड़े कंधों पर बैठ कर सरसों के खेतों में घूमना मुझे आज भी याद है.

“पुत्र, रज्ज के खाया-पिया कर. सेहत बना.” वे कहते. खाने-पीने में वे पक्के अंबरसरिये (अमृतसर के) थे.

चाई जी भी हमारे साथ आयी थीं. उस दिन उन्होंने जो मक्की की रोटी और सरसों का साग खिलाया था उतना स्वादिष्ट खाना मैंने कभी नहीं खाया था. उसी दिन सिमरन ने मुझे अकेले में ‘पिछ्छे-पिछ्छे आंदा, मेरी चाल वेहंदा आई, चीरे वालेया वेखदा आई वे, मेरा लौंग गवाचा’ गीत सुनाया था. हम दोनों घूमने के लिए खेतों की ओर निकल गये थे. सिमरन ने फुलकारी वाला गुलाबी सूट पहना हुआ था. तभी तेज़ हवा के एक झोंके से उसकी चुन्नी उड़ गयी थी. मैंने तेज़ी से दौड़ कर चुन्नी पकड़ ली थी. जब मैंने सिमरन को उसकी चुन्नी लौटायी थी तो उसने प्यार से मेरा माथा चूम लिया था.

“आप बहुत सोहणे (सुंदर) हो.” मैंने शर्म से लाल होते-होते भी यह कह दिया था.

“चल, झूठे.” सिमरन ने बनावटी गुस्से से कहा था हालांकि उसकी आंखें खुशी से झूम रही थीं. और वह खुल कर हंस रही थी. उस दिन सिमरन मुझे बहुत अच्छी लगी थी. मैं उसकी उन्मुक्त खनकती हुई हंसी का दीवाना था.

उसी शाम छबे पा' जी ने मुझे, सुरिंदर और सिमरन को एक ऐसी मार्मिक कहानी सुनायी थी जो आज भी मेरी आंखें नम कर देती है.

“पुत्र, आ मैं तुम सब को एक सच्ची कहानी सुनाता हूँ. १९७१ की भारत-पाक जंग हमने जीती थी. लेकिन अपने फ़ौजियों की कुर्बानियों के बाद.” छबे पा' जी ने कहानी शुरू की.

“जंग खत्म होने के बाद भी हमारे दर्जनों फ़ौजी लापता थे. उनके घरवाले उन्हें शिद्दत से ढूँढ़ रहे थे. दो-ढाई महीने बाद ऐसे ही एक फ़ौजी ने अपने घरवालों को फ़ोन किया. फ़ोन पर उसने बताया कि वह जंग में घायल हो गया था. लेकिन उसके एक साथी फ़ौजी ने अपनी जान पर खेल कर उसे बचा लिया. इस दौरान उसका साथी फ़ौजी बुरी तरह घायल हो गया. उसके साथी फ़ौजी के दोनों हाथ और एक टांग को काटना पड़ा तब कहीं जाकर उसकी जान बच पायी. फ़ोन पर फ़ौजी ने अपने घरवालों को आगे बताया कि उसका साथी फ़ौजी अब अपाहिज हो गया था.

“उस फ़ौजी ने अपने घरवालों से आगे पूछा कि क्या उसका अपाहिज दोस्त अब उसके घर पर रह सकता है? उस अपाहिज का अब कोई नहीं. इसलिए फ़ौजी ने अपने घरवालों से गुज़ारिश की कि वे उसके अपाहिज साथी को अपना लें.” हम सब ध्यान से पा' जी की कहानी सुन रहे थे.

“लेकिन उस फ़ौजी के घरवालों ने उसे अपने अपाहिज साथी को अपने साथ घर लाने से मना कर दिया. वे उसके अपाहिज साथी का बोझ उठाने को तैयार नहीं थे. यह सुनकर उस फ़ौजी ने फ़ोन बंद कर दिया.”

“फिर क्या हुआ, पा जी?” मैंने पूछा

“पुत्र, इसके बाद उस फ़ौजी के घरवालों को उसका कोई अता-पता नहीं लगा. उसने फिर कभी अपने घरवालों को फ़ोन नहीं किया.” छबे पा' जी ने उदास आवाज़ में कहा.

“ऐसा क्यों, पा जी?” मैंने फिर पूछा.

“ऐसा इसलिए पुत्र क्योंकि दरअसल उसके अपाहिज फ़ौजी साथी की कहानी झूठी थी. असल में वह फ़ौजी खुद ही जंग में अपाहिज हो गया था. अपने घर फ़ोन करके दरअसल वह यह जानना चाहता था कि कहीं उसके घरवाले अब उसे बोझ तो नहीं समझेंगे. अपने घरवालों का इम्तिहान लेने के लिए उस फ़ौजी ने उन्हें अपने अपाहिज दोस्त की झूठी कहानी सुनायी थी. घरवालों की बात सुन कर उस फ़ौजी का दिल टूट गया. वह फिर कभी अपने घरवालों से नहीं मिला.” छबे पा' जी की आवाज़ में गहरा दर्द था.

कहानी सुन कर हमारी आंखें भी नम हो गयी

थीं.

“आपको यह कहानी कैसे पता, पा’ जी?” मुझे से रहा नहीं गया तो मैंने पूछ ही लिया.

“मुझे यह कहाणी इसलिए पता है, पुत्र, क्योंकि यह मेरे जिगरी यार की कहानी है.” यह कहते-कहते छब्बे पा’ जी की आंखों में भी आंसू आ गये थे....

पीछे मुड़ कर देखने पर यह सब किसी बीते हुए युग की बात लगती है. एक प्राचीन कथा. एक पूर्व-जन्म.

सावधान, आगे कहानी में कुछ अंधे मोड़ हैं--

*“दशकों पहले एक बचपन था,
बचपन उल्लसित किलकता हुआ,
एक मासूम उपस्थिति,
सूरज चांद और सितारों के नीचे,*

X X X

*बचपन चिड़िया का पंख था,
बचपन उड़ती-कटती पतंगें थीं,
बचपन चाई जी की गोद थी,
बचपन छब्बे पा’ जी की कहानियां थीं...”*

-अपनी डायरी का अंश

धीरे-धीरे मैं बड़ा हो रहा था. जो कहानी मैंने एक दिन कल्पना में पेड़ पर से तोड़ी थी उसमें हंसता हुआ पात्र अब अट्टहास करने लगा था. अब मुझे उस हंसी से डर लगने लगा था. यह एक बेहद संवेदनशील पल था. यदि हंसी आपको डराने लगे तो फिर बच्चे की निगाह में भी उस हंसी का अर्थ बदल जाता है केवल उसी हंसी का नहीं, दुनिया की सारी हंसी का अर्थ बदल जाता है. हो सकता है, बच्चे का भरोसा तब दुनिया की सारी हंसी से उठ जाये. मेरे साथ यही हो रहा था. यह एक डरावनी बात थी.

मैं सच कहता हूँ, मुझे अपने समय की उस कहानी से प्यार हो गया था. मुझे उस हंसी से प्यार हो गया था. यह वह हंसी थी जो सुनने वालों को अपने साथ ले लेती थी. लेकिन बाद में मैंने पाया कि वह हंसी एक डरावने अट्टहास में बदल गयी थी. मुझे लगा जैसे समय ने मुझे धोखा दिया है. मेरी मासूमियत को छला है. यह बोध ही मेरे बड़े हो जाने की शुरुआत थी. दरअसल पंजाब में आतंकवाद शुरू हो गया था.

फिर मैं आगे की पढ़ाई करने के लिए दिल्ली चला आया.

“रब्ब राखा, पुत्र.” छब्बे पा’ जी ने मुझे सीने से लगाते हुए कहा था. मेरी आंखों में आंसू आ गये थे.

धीरे-धीरे मेरा अमृतसर आना कम होता चला गया था. आतंकवाद का ज़माना चल रहा था. पिताजी कॉलेज में प्राध्यापक थे. दहशत के माहौल से बचने के लिए पिताजी ने अमृतसर का मकान किराये पर चढ़ा दिया और हमारा सारा परिवार दिल्ली आ गया. आये दिन दर्दनाक वारदातें हो रही थीं. निर्दोष लोगों को बसों से उतार-उतार कर मारा जा रहा था. पंजाब के दरियाओं में आग लग गयी थी.

फिर पता चला कि छब्बे पा’ जी जून १९८४ में ऑपरेशन ब्लू-स्टार के समय बड़े पैमाने पर चलाये गये फ़ौजी अभियान की चपेट में आ गये. उनके गांव में किसी की उनसे व्यक्तिगत दुश्मनी थी. वह आदमी पुलिस में था. उसकी निशानदेही पर छब्बे पा’ जी को ए-कैटेगरी का आतंकवादी बता कर उन्हें जोधपुर जेल में बंद कर दिया गया. उन्होंने लाख दुहाई दी कि वाहेगुरु की सौंह (कसम), वे सच बोल रहे थे, उन्होंने अपने बच्चों की कसम खायी कि उनका आतंकवादियों से कोई लेना-देना नहीं था, लेकिन उनकी एक नहीं सुनी गयी. कई साल वे जोधपुर जेल में सड़ते रहे. फिर १९९४-९५ के आस-पास बड़ी मुश्किल से वे जेल से रिहा हो पाये.

इस बीच सिमरन के मामा और दूसरे रिश्तेदारों ने ज़बर्दस्ती उसकी शादी एक अंधेड़ उद्योगपति से कर दी थी. लेकिन यह शादी जल्द ही टूट गयी. जब छब्बे पा’ जी जेल से रिहा हो कर घर पहुंचे तब तक तीन साल की लंबी कानूनी लड़ाई के बाद सिमरन का तलाक हो चुका था. उनके बेटे सुरिंदर के बारे में एक-डेढ़ साल से किसी को कोई अता-पता नहीं था.

उन्हीं दिनों एक रात मैंने एक सपना देखा. सपने में एक दृश्य – अतीत में हंस रहे छब्बे पा’ जी वर्तमान में रो रहे हैं. लेकिन ऐसे जैसे वैक्यूम में कोई रोता है. उनके आंसू तो दिख रहे हैं पर रुदन सुनाई नहीं दे रहा.

सपने में दूसरा दृश्य – भविष्य की किसी आकाशगंगा के किसी सुदूर नक्षत्र से लौटा उनका बेटा

सुरिंदर अपने पिता को वर्तमान में रोता हुआ पा कर उन्हें उनके हंसते अतीत में ढूँढ़ रहा है। वह उन्हें अतीत से भविष्य में ले जाने आया है लेकिन उनका रोता हुआ वर्तमान बीच में बाधा बन रहा है। सुरिंदर छबे पा' जी को जिस भविष्य की ओर ले जाना चाहता है उसका रास्ता अमेरिका से हो कर जाता है। लेकिन छबे पा' जी डॉलर की गंध से अपरिचित हैं। उन्हें अंग्रेजी नहीं आती और उनके मोबाइल का रिंग-टोन 'सतनाम वाहेगुरु' है। दूसरी ओर उनके बेटे सुरिंदर के मोबाइल का कॉलर ट्यून् माइकल जैकसन का थड़ाम्-थड़ाम् रॉक संगीत बजाता है जो छबे पा' जी के पल्ले नहीं पड़ता। सुरिंदर भी अब कोई अजनबी ज़बान बोलने लगा है। बाप-बेटा एक दूसरे को नहीं समझ पा रहे.... यहीं मेरा सपना टूट गया।

छबे पा' जी की रिहाई के बाद जब मैं उनसे मिलने अमृतसर गया तो उन्हें देखकर मैं डर गया। वे शरीर से अलग हो गयी परछाई-से लग रहे थे। किसी ढही हुई इमारत जैसे।

“पा' जी, कोई कहाणी सुनाओ।” उनका कांपता हाथ अपने हाथों में ले कर मैंने कहा।

“मेरी सारी कहानियां मर गयी हैं, पुत्र। भीतर कहानियों का समंदर अब सूख गया है।” थरथराती हुई आवाज़ में वे बोले।

“नहीं, पा' जी। कहानियां कभी नहीं मरतीं। कहानियों की अमर-बेल सदा हरी रहती है।” मेरे मुंह से खुद-ब-खुद निकल आया।

“पुत्र, मेरे बाद मेरी सिमरन का क्या होगा?” उनकी आंखों में अंधेरा भरा था।

“वाहेगुरु, पर भरोसा रखो, पा' जी। सब सही हो जायेगा।” उनके कांपते हुए हाथों को अपनी हथेलियों में स्थिर करते हुए मैंने कहा।

सिमरन बगल में बैठी हुई थी। उसकी आंखों में आंसुओं के मोती चमक रहे थे।

जब दुख मेरे पास होता है

मुझे अपनी परछाई भी

नज़र नहीं आती,

केवल एक सलेटी अहसास होता है

शिराओं में इस्पात के

भर जाने का,

केवल एक पीली गंध होती है

भीतर कुछ सड़ जाने की

और पुतलियां भारी हो जाती हैं

न जाने किन दृश्यों के बोझ से।’

- उस रात मैंने अपनी डायरी में लिखा था।

□

अब छबे पा' जी नहीं रहे।

उनके दो भाई पहले ही अमेरिका जा कर बस चुके थे। वहां जा कर वे डॉलर के हो कर रह गये थे और अपने मुल्क और रिश्तेदारों को भूल गये थे। उनकी इकलौती बहन शादी के बाद पति के साथ आस्ट्रेलिया चली गयी थी। बेटा सुरिंदर अमेरिका जाना चाहता था। बाद में पता चला कि वह एजेंटों के चंगुल में फंस गया था। अवैध रूप से यूरोप में प्रवेश करने के जुर्म में वह इटली की किसी जेल में बंद था। बहुत मुश्किल से इटली के भारतीय दूतावास की मदद से वह रिहा हो पाया। चाई जी भी पूरी हार चुकी हैं। वे छबे पा' जी के गुजर जाने का ग़म नहीं सह पायीं।

□

मेरी शादी हो चुकी है। मेरे दो बच्चे हैं। बेटा बारह साल का है और बेटा सात साल की है। अब मैं छबे पा' जी से सुनी हुई तमाम कहानियां अपने बच्चों को सुनाता हूं। मैंने छबे पा' जी से कहा था- कहानियां कभी नहीं मरतीं। छबे पा' जी आज भी मेरे भीतर जीवित हैं। हर रविवार मैं, मेरी पत्नी और मेरे दोनों बच्चे- हम सब इलाक़े के एक अनाथालय में जाते हैं। यहां मैं अनाथ बच्चों को भी छबे पा' जी से सुनी हुई कहानियां सुनाता हूं और उन बच्चों को हंसता-खिलखिलाता हुआ पाता हूं। मेरी कहानियां सुनकर मेरे अपने बच्चे भी खुल कर हंसते हैं। मैं उनकी वही निष्कपट और मासूम हंसी बचाये रखने की जद्दोजहद में जुटा हूं। इस प्रयास में मेरी पत्नी और उनकी मां सिमरन भी मेरे साथ हैं। जी हां, मैंने सिमरन से शादी कर ली। छबे पा' जी भी यही चाहते थे।

✍️ द्वारा एच. बी. सिन्हा,

५१७४, श्यामलाल बिल्डिंग, बसंत रोड,

पहाड़गंज, नयी दिल्ली-११००५५

मो. ९८६८५९२८२/९८६८९५७४९९

‘उस रात... समय वहीं था!’

जगरूप तेज़ क़दमों से नहर की पगंडी पर बढ़ा चला जा रहा था. इस वक़्त उसके ध्यान में सिर्फ़ एक ही बात घूम रही थी. ठीक उसी तरह जैसे उस वक़्त पंछी आसमान में घूम रहे थे. सही समय पर पहुंच कर अपने खेतों में पानी लगाना है. समय भी चुपचाप उसी पगंडी पर उसके साथ-साथ चल रहा था, उसके क़दम तेज़ होते, समय भी उसके साथ तेज़ी से उसके साथ दौड़ता और क़दम कुछ शिथिल हुए तो समय की चाल भी धीमी हो जाती.

पगंडी और नहर के किनारे के बीच उगे सरकंडे हवा के साथ ऐसे लहरा रहे थे जैसे कई मदमस्त शराबी एक साथ झूम रहे हों. डूबते सूरज की लालिमा धीरे-धीरे सिमटती जा रही थी. सूरज उस वक़्त ज़रूर किसी स्कूल के बच्चे की तरह सोच रहा होगा कि स्कूल की छुट्टी होने वाली है, अपनी किताबें, कॉपी, पेंसिल सब समेट ले चलूं. और सूरज चला गया अपने घर. अब वहां नहर का पानी था, जो उस मौन वातावरण में कलकल करता बहे जा रहा था. पंछी भी अब अपने ठिकानों पर पहुंचने को लौटने लगे थे.

नहर के पुल पर पहुंच कर वह रुका. अब उसका खेत ज़्यादा दूर नहीं था. खेत नज़दीक आया तो अब घर उससे दूर चला गया था. उसने चारों ओर नज़र दौड़ायी, दूर-दूर तक सन्नाटा पसरने लगा था. इक्का-दुक्का लोग घरों को लौट रहे थे. पुल के साथ सटी पटरी पर बैठ, उसने मुंह-हाथ धोया, फिर थोड़ा पानी पिया.... और फिर वह चल पड़ा. पूरब दिशा से, बड़े से थाल के आकार में, चांद घने पेड़ों की ओट से ऊपर को चढ़ आया था.

सही वक़्त पर पहुंच कर उसने खाले का नाका काट, पानी का रुख अपने खेतों की तरफ मोड़ दिया था. अब वह चांदनी रात में कोठे के बाहर बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था. उस वक़्त वह सोच रहा था – साली जेब को भी आज ही ख़ाली होना था, नहीं तो रात

काटने को अद्दा-पव्वा कुछ तो साथ ले ही आता. वह सोच ही रहा था कि थोड़ी ही दूर से किसी ने आवाज़ दी- “जगरूपे भाई! राम राम!” आवाज़ सन्नाटे को चीरती हुई उसके एकदम पास चली आयी थी और उसके हुक्के के आसपास कहीं गिर गयी थी. उसने आवाज़ को पहचान लिया था. यह संपूर्ण सिंह की आवाज़ थी. जो अब करीब आ पहुंचा था.

‘आजा भाई! आजा.... संपूर्ण सिंहा, मैं तेरी ही बाट देख रहा था. रात साढ़े बारह बजे तेरे खेतों में पानी जाना है, तब तक यहीं मेरे पास हुक्का-पानी चख ले और तो कुछ मैं आज ला नहीं सका.’

॥ टीशन वर्मा ‘टीशन’ ॥

‘तो फिर क्या हो गया भाई साहब! इसी बहाने मुझे सेवा का मौक़ा मिल गया.’ संपूर्ण अब उसके करीब आ पहुंचा था, आते ही उसने चदरे में लपेटी बोटल, कुरते की जेब से दो तीन प्याज़ और चने की दाल वाली नमकीन निकालकर जगरूप के सिरहाने रख दी. हुक्के का एक सुट्टा लगाने के बाद वह कोठे से गिलास लेने अंदर चला गया.

रात के ग्यारह बजने को आये. चांद अब सिर के ऊपर आ पहुंचा था. यह एक चांदनी रात थी, जिसमें नीली चांदनी यहां-वहां सब जगह झर-झर कर गिर रही थी. खाते-पीते, बातें करते वक़्त कब बीत गया, दोनों को मालूम ही नहीं हुआ. संपूर्ण ने नशे की टुन्न में ही कहा- ‘भाई जगरूप! मैं ज़रा सारी क्यारियां और नाके देख के अभी आया, तू एक-एक तैयार करके रख, मैं दो-एक मूली भी उखाड़ कै अभी आया.’

संपूर्ण के जाते ही जगरूप को घर से चलते वक़्त की बातें याद हो आयीं. उसकी पत्नी ने उसको चलते वक़्त याद कराया था- ‘पुल्ले के बापू! गैस का सलैण्डर दो महिने तै ख़त्म होया पड़या सै, भरवाण बारे कुछ सोच ले. मेरी दवाई भी आज ख़त्म हो रही सै. आते

वक्त चाक्की तै आट्टा भी उठाता ल्याइये.'

वह सोच रहा था- इस महंगाई का कहीं छोर है भी कि नहीं, साली जहां देखो वहीं बिखरी पड़ी है. और देश को चलाने वाले ये साले लीडर दस जमात पास नहीं होते, फिर भी अपने से ज्यादा पढ़े-लिखे अफसरों को गाली देकर बात करते हैं. एक बार जब गांव के लोगों से किसी काम के एवज में एक अफसर ने रिश्तत मांगी तो लोग इकट्ठे हो कर मुख्यमंत्री के पास गये थे. मुख्यमंत्री ने उनसे पूछा था- "यहां राजधानी पहुंचने में आप लोगों का, उस रिश्तत से ज्यादा खर्च हो गया होगा. वहीं ले-दे कर काम चला लेते, कुछ खर्चा भी बच जाता और काम भी हो जाता." बात तो मुख्यमंत्री की ठीक थी, पर देश में ऐसी नौबत का आना भी शर्म की बात है.

इस देश की नींव ही गलत पड़ी थी, तभी तो आज यह हाल है देश का. कहीं कोई सिस्टम नहीं, अमीर और अमीर होता जा रहा है और गरीब और गरीब होता जा रहा है. पत्नी की बीमारी और घर के खर्चों ने उसे तोड़ कर रख दिया है. खेत के पानी की तरह कहीं पानी रोकने के लिए वह बाड़ लगाता तो, पानी कहीं और से किनारे तोड़ बह निकलता. यही कुछ आढ़त और घर, खेत के बीच गुजरती उसकी जिंदगी में घटित हो रहा था.

□

समय देखते ही देखते करवट बदल कर क्या से क्या हो गया. बाप और दादा के समय में इतना ज्यादा बदलाव नहीं आया था, जितना अब वह अपने समय में देख रहा था. बंटवारा होते-होते परिवार के लोगों के पास खेतों की बजाय ज़मीन के टुकड़े रह गये हैं. अब वे दिन मुड़ के भला कहां आ पायेंगे? वह बीते दिनों की यादों में डूबता गया और गहराई के तल में जा कर एक जगह स्थिर हो गया था, जहां उसके चारों ओर बहुत पुराने, कुछ पुराने और कुछ अब के ताज़ा दृश्य बिखरे पड़े थे. उसने एक बहुत पुराने दृश्य को छुआ, वह उसके बचपन का दृश्य था. जिसमें वह घर से खेत तक का सफ़र तय कर रहा था. वह देख रहा था....

भरी दोपहर में पुराने टायर को डंडे से हांकते हुए जब दादा जी के सामने पहुंचता, दादा जी कहते- 'आ गया मेरा शेर पुत्र! जा पहले पीपल की छांव में बैठ कै गन्ना चूस ले, फिर मेरे साथ रोटी खाइये बैठ कै.' दादा



रश्मि वरुण

२१ जुलाई १९७१, करोड़ा (कैथल), हरियाणा

- लेखन** : १४ वर्ष की आयु से ही स्थानीय समाचार पत्रों के लिए लेखन व पत्रकारिता की शुरुआत. अब तक देश की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में हर विधा की रचनाएं प्रकाशित.
- संपादन** : 'तलाश के बाद' पाक्षिक का संपादन/प्रकाशन. दैनिक 'हक्र परस्त' (कैथल) में उपसंपादक/कैमरा ऑपरेटर.
- विशेष** : पांच वर्षों (१९९७-२००१) तक 'अक्षरधाम समिति' द्वारा हरियाणा-पंजाब-राजस्थान-उत्तर प्रदेश के विभिन्न शहरों में आयोजित १०२ पुस्तक मेलों का संचालन/प्रबंधन.
- अन्य** : मुद्रण में प्रयुक्त वर्टिकल कैमरा ऑपरेटिंग, रेखा चित्रण एवं पुस्तकों के मुखपृष्ठ आकल्पन, हरियाणा युवा पत्रकार संघ, चंडीगढ़, जर्नलिस्ट एसोसिएशन के सदस्य, 'अखिल भारतीय साहित्य परिषद' (राजस्थान) द्वारा 'पुस्तक मित्र अवार्ड'.
- संप्रति** : पेंटर/पब्लिसिटी. स्वतंत्र लेखन.

जी जब बोलते थे तो होठों के ऊपर रखी उनकी भारी-भारी सफ़ेद मूछें फड़फड़ाती थीं. उसे कई बार शक होता- दादा जी की मूछें नकली हैं या दो सफ़ेद कबूतर उनकी मूछों के अंदर बैठकर अपने पंख फड़फड़ाते हैं. दादाजी के बारे में सोच वह मन ही मन में हंस दिया.

खेतों के रास्ते में रेल की लाइन गुजरती थी, जो अब भी गुजरती है. तब बच्चे आपस में बात किया करते थे, कि जब रेल गाड़ी चलती है तो वह चुंबक बन जाती है और छोटे बच्चों को अपनी तरफ खींच सकती है. जब रेल आये तो दूर रहना चाहिए. वे सब पटरियां पार करने से पहले, कान पटरी पर लगाकर सुनते थे कि ट्रेन तो नहीं आ रही. कई बार दस पैसे का सिक्का

पटरी पर रख, ट्रेन का इंतज़ार करते - कब ट्रेन आयेगी और दस पैसे का सिक्का रुपये से भी बड़ा कर के जायेगी. आखिर ट्रेन आती, वे सब दूर पेड़ के नीचे बैठे ट्रेन को गुजरते हुए देखते. बाद में जा कर अपना सिक्का ढूँढ़ते, जो बड़ा हो चुका होता था.

गांव के तालाब पर नहाते वक़्त, दादा जी उनको तैरना सिखाया करते थे. उनका बड़ा सीधा और सरल फॉर्मूला था - पानी में अगर कभी फंस जाओ तो, घबराहट छोड़कर हाथ-पैर चलाओ. वैसे वह शुरुआत में पानी के स्तर पर अपने दोनों हाथ फैला कर, हाथों पर उन्हें पेट के बल लिटा कर, हाथ पैर मारने को कहते थे जो बड़ा रोमांचकारी होता था. मगर एक दिन दादा जी की अनुपस्थिति में अकेले तैराकी के अभ्यास ने उसकी जान ले ली होती!

चौथी पौड़ी पर वह नहीं जाता था, क्योंकि वहां पानी उसके सिर के ऊपर के स्तर तक पहुंच जाता था. अभी वह कच्चा तैराक प्रशिक्षु था. उस दिन उसका पैर फिसला और वह चौथी पौड़ी पर जाकर डूबने लगा, अगर एन वक़्त पर मिंदा लुहार तालाब पर नहाने न आया होता, तो कब का उसका राम नाम सत्य हो गया होता. तब उसके मरने से डरने की उम्र भी तो नहीं थी. फिर एक नया फॉर्मूला चलन में आया - अपने पाजामे को गीला कर दोनों पायचों के सिरे अलग-अलग रस्सी से बांधकर बंद करो, फिर नाड़े वाली जगह से पकड़ कर बर्ज से छलांग लगाओ. ऐसा करने से पाजामे की दोनों टांगों में हवा भर जाती और वह किसी घोड़े की सवारी जैसा मजा देता, फिर वे सब दोस्त घंटों अपने हवा भरे पाजामों पर बैठकर तालाब की सैर करते. कुछ ही दिनों में वह बिना किसी सहारे के पक्का तैराक बन गया था.

स्कूल जिसे दादा जी मदरसा कहा करते थे, बड़ा दिल लगता था वहां, मुख्य द्वार के साथ सीमेंट से बने पहाड़ों और नदियों के दृश्य, उन पर बैठकर दोपहर की छुट्टी में दोस्तों के साथ खाना खाना, लस्सी की बोटल और अचार के साथ परांठे, सब कुछ स्मृतियों के आंगन में विद्यमान था. स्कूल से आने के बाद हरजी बनिये की दुकान पर एक चक्कर किसी बहाने - कल्याण रोशनाई जो कागज़ की पुड़िया में मिलती थी. कांच की दवात, लकड़ी कलम, तख्ती, स्लेट या लिखने की बत्ती वहां से

सब चीज़ें मिलती थीं. अब इन चीज़ों के नाम तो हैं, मगर मिलती कहीं नहीं.

हरजी की दुकान के सामने जोग ध्यान हलवाई की दुकान होती थी, जहां एक या दो रुपये में बहुत सी मिठाई मिल जाती थी. स्कूल तब गांव से बाहर होता था जो अब मकानों ने अपने बीच में ले लिया है. तब स्कूल के आस-पास बहुत कम आबादी होती थी, सिर्फ कुछ जिमरों के घर होते थे, जिनके बुजुर्ग और औरतें सुबह स्कूल जाने के वक़्त क़तार में बैठे लकड़ी की टहनियों से टोकरे बना रहे होते थे.

स्कूल के पास दो खास जगहें और थीं. एक पशुओं का सरकारी अस्पताल और एक बस अड्डा, जहां बस आने पर चारों तरफ धूल का गुबार ठीक उस तरह उड़ता था जैसे आजकल हेलिकॉप्टर के उड़ान भरने के वक़्त उड़ता है. बस के इंतज़ार में खड़े लोग और भल्ला मोची तब कुछ देर के लिए उस गुबार के अंदर कहीं अदृश्य हो जाते थे. धूल छंटने पर वे सब अपनी उन्हीं जगहों पर नज़र आते थे.

अस्पताल के आंगन में एक बड़ा सा पीपल का पेड़ होता था, जिसके शिखर की टहनी पर एक लालटेन लटकी रहती थी. उस लालटेन के बारे में बच्चों की अपनी एक अनोखी कहानी थी कि उस पेड़ पर देर रात को सैय्यद की सवारी नीले घोड़े पर सवार होकर आती है, तब लालटेन अपने आप जल जाती है. सच-झूठ का फर्क उस वक़्त कुछ कर नहीं पाते थे.

संपूर्ण पता नहीं कहां खो गया था, या किसी के पास और कहीं चला गया था. कुछ मालूम नहीं पड़ रहा था. वह फिर वहीं अपने अतीत के चलचित्रों में खो गया - अब वह अपने घर के आंगन में किसी कौवे को पकड़ने की नाकाम कोशिश का दृश्य देख रहा था. कैसे वह भरी दोपहर में आंगन में नीम के पेड़ के नीचे, पूरे शरीर को छिपाते हुए एक चादर ओढ़ता था, फिर रोटी के टुकड़े और पानी की कटोरी आंगन में रख, एक टोकरे के पीछे खुद को छिपा कर बैठता था.

चिड़ियां और गिलहरियां अक्सर आतीं और उसकी मौजूदगी में, जैसा वह टोकरे के पीछे से छिपकर सुराखों से देखता था, आतीं और रोटी खातीं, पानी पीतीं और चली जातीं. उसे बहुत खुशी होती उन्हें इतने करीब से देखकर मगर कौवे अक्सर उसकी वहां मौजूदगी को

गज़लें

६ मुकुंद कौशल

यूं तो खुशी का रोज़ नया सिलसिला मिला ।
 फिर भी हर एक शब्द यहाँ गमज़दा मिला ॥
 दो पत्थरों के बीच थी मिट्टी ख़फ़ीफ़ सी,
 बारिश हुई, दरार में पौधा उगा मिला ।
 सहरा की गर्म रेत थी हर सू जहाँ वहाँ,
 तपती हवा में प्यार का पत्ता हरा मिला ।
 तन्हाई की तलाश में जिस सिम्त में गया,
 उस ओर से आता हुआ इक काफ़िला मिला ।
 माना यहाँ फ़कीर है, हर आदमी मगर,
 कासा मुझे नसीब से कुछ अलहदा मिला ।
 मैंने तमाम उम्र बनायी खुद अपनी राह,
 दरिया में वो नहीं जो समुंदर से जा मिला ।
 पैरों में ज़ख्म राह में कटि रहे तो क्या,
 'कौशल' हर एक हाल में गाता हुआ मिला ।

दिल ही किसी का तोड़ दे सेसा न बोलिस ।
 ताला है दिल, तो प्यार की चाबी से खोलिस ॥
 लोगों को हंसते देखना चाहें तो आप भी,
 चेहरे के हाव-भाव में मुस्कान घोलिस ॥
 खुशियाँ मिलीं तो चाँट दीं सब ही को प्यार से,
 जब गम मिला तो बैठ के चुपचाप रो लिये ।
 लोगों में सेब दूढ़ने निकले तो हैं मगर,
 पहले खुद अपने आप के भीतर टटोलिस ।
 रहज़न मिले हैं चारहा रहबर की शकल में,
 वो हम न थे जो रहज़नों के साथ हो लिये ।
 ऊंचाइयों के बाद ढलानें भी आयेंगी,
 'कौशल' ज़रा सी बात पे इतना न, डोलिस ।

✍️ एम-५१६, पन्नाभपुर,
 दुर्ग-४९१००९(छ.ग.)

भांप लेते थे और एकदम करीब आ कर भी लौट जाते थे. आंगन में उसी नीम के पेड़ पर न जाने कितनी बार वह चने की दालवाली नमकीन में नींबू निचोड़ कर प्याज़ के बारीक टुकड़े मिला, घने पत्तों वाली टहनियों के बीच बैठकर खाने के लिए चढ़कर बैठा करता था.

बचपन के दिन, शौक धीरे-धीरे वक्त ने सब समेट कर कहीं रख दिये थे. अब दृश्य में उसे गांव में होनेवाली शादियां नज़र आ रही थीं. जिनमें उसे घरवालों के भेजने पर अपने दोस्तों के साथ या घर के बुजुर्गों के साथ न्योता डालने जाना होता था. वहाँ - अपने पड़ोस का एक पंडित उसे अक्सर मिल जाता था, जिसकी खुराक के बारे में पूरे गांव में बातें मशहूर थीं कि उसे तो कोई दिलवाला ही जिमा सकता है. शादियों में अक्सर वह बड़ी सी थाली को दो-तीन बार ऊपर तक भरवा कर खाली करता था.

पढ़ाई के दिनों का एक दृश्य फिर अचानक न जाने कहां से उसके सामने चला आया- उसे अखबारों और कागज़ों के खास पेज काट कर संभाल कर रखने

का बड़ा शौक हुआ करता था. इसके अलावा हरजी की दुकान से लाये लाल, पीले, हरे, नीले कागज़ के टुकड़ों को काटकर अलग-अलग आकृतियां तैयार करना, उन्हें एक फाइल में चिपकाना. इस काम के लिए एक ब्लेड का टुकड़ा हमेशा उसके पास होता था, जिसे वह अपनी चप्पल में एक खास जगह कट लगाकर उसमें छुपा कर रखता था.

□

संपूर्ण की आवाज़ में दूर... बहुत ज़्यादा दूर भी नहीं एक लोक-गीत सुनाई पड़ने लगा तो - वह उन चलचित्रों, दृश्यों के सागर से बाहर निकल आया. संपूर्ण के दोनों हाथों में मूली थी, जो वह चलते पानी में धोकर लाया था. चांदनी रात में दूर से वे तलवारों की तरह चमक रही थीं. वह उठ खड़ा हुआ और टहलने लगा. समय भी उसके साथ टहल रहा था.

✍️ 'लक्ष्य', ५२ए मानकपुर,
 देवीलाल कॉलोनी, पिंजौर,
 पंचकुला (हरि)-१३४१०२.
 फ़ो- ९२५६५६५०३९

बुलाकी

उस रविवार को जब बुलाकी आया तो बहुत उदास था. आंखें देखकर यूँ लगता था जैसे वह दो-तीन रातों से सोया नहीं था. आते ही उसने कंधे पर लटकी कपड़ों की पोटली एक ओर पटकी और ज़मीन पर चुपचाप बैठ गया था. मुझे उसका यह व्यवहार बड़ा अजीब सा लगा क्योंकि यूँ तो वह हर रविवार को जब मैले कपड़े लेने के लिए आता था तो दूर से ही उसकी 'राम-राम' की पुकारें सुनाई पड़ने लगती थीं. उन पुकारों में एक मस्ती भरी होती थी.

मोहल्ले में जो भी उसके सामने पड़ता, वह उसी को अपनी दुआ-सलाम ठोक देता था. फिर खड़े-खड़े एकाध बात भी हो जाती थी. किसी-किसी से हंसी-ठिठोली भी हो जाती थी. ठेठ देसी तरीके की. पर अपने अलमस्त स्वभाव के बावजूद भी वह अदब, क्रायदे और छोटे-बड़े के लिहाज़ का पूरा ध्यान रखा करता था. क्या मजाल जो उसने कभी किसी की शान में कोई गुस्ताखी की हो.

हालांकि वह खुद पचपन-साठ साल के लपेटे में था पर अगर उम्र में उससे दो-चार साल छोटा भी कोई व्यक्ति उससे कभी कह देता, 'क्यों रे बुलाकी, रात कच्ची बहुत पी ली थी क्या, क़दम अभी तक लड़खड़ा रहे हैं.' तो बुलाकी बस हल्के से खिस्स करके हंस देता था और दोनों हाथ जोड़कर माथे से लगाते हुए बस इतना ही कहता था, 'मालिक, मालिक!'

मोहल्ले के लोगों और बुलाकी के बीच इन संवादों, अर्ध-संवादों और संकेतों में एक ऐसा गहरा अपनापन था जिसने एक बेल की तरह फैल कर ऊंच-नीच की दीवार को अपनी हरियाली में छिपा रखा था.

प्रत्येक रविवार को बुलाकी पिछले धुले कपड़ों की छोटी-बड़ी पोटलियां लिये आता था और मोहल्ले के कई घरों में उन पोटलियों में बंधे पिछले कपड़े देकर, धोने व प्रेस करने के लिए मैली चादरें, ग़िलाफ़ पाजामें, कुर्ते, सूती साड़ियां, पेटीकोट वग़ैरह उसी तरह से

पोटलियों में बांध कर ले जाता था.

मोहल्ले में पहुंचते ही बुलाकी का पहला पड़ाव होता था बब्बन खलीफ़ा का चबूतरा. हर रविवार को वहां मोहल्ले के बुजुर्गों का जमावड़ा होता था जिसमें होती थी राजनैतिक मुद्दों पर गरमागरम बहसबाज़ी. बुलाकी भी पास की सीढ़ियों पर बैठकर उसका आनंद उठाता था और बीच-बीच में अपनी राय भी देता रहता था. उसके बाद वह राजे पानवाले की दुकान पर थोड़ी देर रुकता था. वहां खड़े होकर वह खैनी मुंह में रखता और सामने लगे शीशे में देखकर अपने सिर पर धरी गांधी टोपी को ठीक से जमाता था. और फिर वह एक-एक करके अपने बंधे बंधाये ग्राहकों के घरों में 'राम-राम' बोलते हुए बेधड़क घुस जाता था.

// संजीव निगम //

जिस भी घर में वह पहुंच जाता था, उस घर के लोगों के लिए उसे निपटाना उस समय सबसे ज़रूरी काम हो जाता था. पिछले धुले कपड़े देने और फिर मैले कपड़े लेने के बीच उसकी ज़बान चलती रहा करती थी. घर का मालिक-मालकिन, बेटा-बहू, बच्चा जो भी सामने पड़ जाये, बुलाकी उसी से बातें करने लगता था. बुलाकी के लिए वे सब भी अपने घरवालों जैसे थे और उन सबके लिए भी बुलाकी घर का ही आदमी था.

मेरे पिताजी चूंकि पत्रकार थे इसलिए हमारे घर में आने पर मेरे पिताजी से बात करने में बुलाकी की विशेष रुचि रहती थी. राजनैतिक बातों का उसे बड़ा शौक था. बब्बन खलीफ़ा के चबूतरे पर हुई बहसबाज़ी के विषय में बुलाकी की जो राय होती थी, उसकी तसदीक कराने के लिए उसे सिर्फ़ मेरे पिताजी पर ही भरोसा था क्योंकि जैसा कि वह खुद बार-बार कहा करता था, 'मालिक, आप अखबारवालों को ही सब बातें सच्ची-सच्ची मालूम होती हैं. बाकी लोग तो खामख्वाह गाल बजाया करते हैं.'

उसकी राय चाहे जो भी हो, मेरे पिताजी हंस कर हर बार उसकी बात का समर्थन कर दिया करते थे. उस वक़्त बुलाकी का चेहरा अपनी समझदारी पर गर्व से भर जाता था. उन क्षणों में वह अपने सिर पर रखी गांधी टोपी को हाथ से थोड़ा पीछे खिसका कर वापिस सिर पर मज़बूती से जमा देता था. उसके बाद वह उत्साह भरे स्वर में मैले कपड़े गिनता, पोटली में बांधता और 'राम-राम' करता हुआ चला जाता था.

हां, वर्षों से जुड़ा होने के कारण उसके कुछ हक़ भी बन गये थे जिनमें से एक था होली, दीवाली, दशहरा वगैरह त्यौहारों पर पिताजी से 'गला तर करवाने' की मांग करना. स्वाभाविक था कि उन अवसरों पर उसे विलायती दारू का स्वाद मिलता था. ऐसे अवसरों पर वह शाम ढले ही आता.

उसका दारू पीने का अंदाज़ बड़ा निराला था. वह स्टील के गिलास में दारू डलवाता था, फिर दोनों पैर मोड़कर कूल्हों के नीचे रखकर वज्रासन में बैठ जाता था. 'शंभो-शंभो' कहते हुए गिलास उठाकर माथे से लगाता था और फिर पिताजी से पूछता, 'मालिक, इजाज़त? पिताजी के 'हां' में सिर हिलाते ही वह पहला लंबा घूट खींचता था और थोड़े समय बाद दूसरा घूट खींचकर गिलास खाली कर देता था. गिलास नीचे रखकर, मूंछों पर लग गयी शराब की बूंदें हाथ से पोंछता था और उसके बाद उस दिन बिना कुछ बोले सिर्फ़ हाथ जोड़कर चला जाता था.

इसलिए, उस रविवार को उसका यूं उदास आना कुछ हज़म नहीं हुआ. उसने सिर्फ़ पिताजी से 'राम-राम' की और ज़मीन पर बैठ गया. मैंने उत्सुकता से पूछा, 'क्या हुआ बुलाकी? रात घरवाली से मारपीट हो गयी क्या?' उसने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया और पिताजी से बोला, 'मालिक, ज़रा गला तर करवा दो.'

अचानक यह मांग सुनकर मुझे बड़ा अजीब-सा लगा. पिताजी को तो ख़ैर क्या अजीब लगता. पीने-पिलाने के मामले में वे पक्के कायस्थ थे. बुलाकी के लिए स्टील के गिलास में दारू आ गयी. उस दिन उसने एक ही घूट में पूरा गिलास खत्म कर डाला था. मैं आश्चर्य से देखता रह गया था.

मैंने पूछा, 'क्या हुआ बुलाकी, कोई परेशानी है



Signature

कथाबिंब के हितैषी एवं नियमित लेखक

क्या?' वह कुछ क्षणों तक कुछ न बोला, बस टकटकी लगाये सामने की तरफ़ देखता रहा. उसके बाद धीमे से बोला, 'क्या बताऊं मालिक, लौंडे ने ऐसी तकलीफ़ दी है कि बस क्या कहूं? परसों रात को ससुरा अपने आप शादी करके अपनी दुल्हन को लेकर घर आ गया.'

उसकी यह बात सुनकर पहले तो कुछ अजीब-सा लगा पर फिर मुझे थोड़ी चुहल सूझी. मैंने मज़े लेने के उद्देश्य से पूछा, 'क्या कहा, तुम्हारे लड़के ने शादी कर ली, वो भी चुपके-चुपके, तुम्हें बिना बताये. अरे राम, राम. तुम्हें समधी के घर गला तर करने का मौक़ा भी नहीं दिया?

पर अनुभव समृद्ध पिताजी ने गंभीर स्वर में कहा, 'अरे तो इसमें इतना मुंह लटकाने की क्या बात है? अब जब उसने शादी कर ही डाली है तो जाने दो इस बात को. खुशी-खुशी स्वागत करो बहू का. रोना क्यों भई.'

बुलाकी उदास स्वर में बोला, 'रोना ही तो है मालिक ससुरा बाह्यन की लड़की को ब्याह लाया है.'

'क्या ब्राह्मण की लड़की को?' मेरी आवाज़ थोड़ी ऊंची होकर गले से निकली. अखबार के पीछे मुंह छिपाये पिताजी के हाथ में भी अखबार के पृष्ठ झूलकर नीचे लटक गये.

'क्या कह रहा है बे? नशा चढ़ गया क्या? तेरा लड़का पंडितों की लड़की ब्याह लाया है.' पिताजी आगे बोले, 'यह हुआ कैसे?'

बुलाकी बोला, 'बता रहा था कि साथ-साथ काम करते हुए दोनों में प्यार-व्यार हो गया था. ऐसे शादी

होना मुसकल लगा तो भाग भूग कर गुपचुप शादी कर ली. ससुरे को पता था न, अगर हमें बता देता तो हम यह शादी होने ही न देते. जूते मार-मार कर ससुरे के सिर से प्यार का सारा भूत उतार देते. कमीने ने बिचारी बाह्यण की बेटी को किस जंजाल में फंसा दिया.'

उस समय उसकी आवाज़ में उदासी और रूआंसेपन का ऐसा मिश्रण था जिसे सुनकर मेरे अंदर हंसी खेल गयी. मैंने अपनी हंसी को दबाते हुए कहा, 'अरे बुलाकी इसमें इतना परेशान होने की क्या बात है, उल्टे इस बात पर तो तुम्हारी मूँछे ऊंची हो जानी चाहिए. पूरी बिरादरी में लड्डू बांटने चाहिए.'

बुलाकी बोला, 'यहां तो उल्टा ही आलम है. जबसे लौंडा उस लड़की को लेकर आया है तबसे एक ओर मेरी औरत यह सोचकर रोये जा रही है कि बिरादरीवालों को क्या जवाब देंगे. दूसरी ओर वह लड़की रोये जा रही है. शायद उसे लग रहा होगा कि मैं कहां इन मैले कपड़ों की पोटलियों के बीच आ फंसी. ससुरी अजब मुसीबत हो गयी है.'

मैंने कहा, 'अरे यार बुलाकी, लड़की का रोना तो समझ में आता है पर तेरी औरत क्यों रो-रोकर अपशकुन कर रही है, घर में नयी बहू के आने पर कुछ समझा उसे.'

'अजी क्या समझाऊं उसे', बुलाकी थोड़े चिढ़े हुए स्वर में बोला, 'लौंडे ने जात से बाहर शादी करके हमारी नाक कटा दी है. पूरी बिरादरी थू-थू कर रही है. सुना है बिरादरी के पंचों ने पंचायत भी बुलायी है. पता नहीं क्या सज़ा देंगे. यह कहते हुए उसने अपनी टोपी के नीचे हाथ डाला और सिर को खुजाकर टोपी पर ज़ोर से हाथ मारकर उसे सिर पर वापिस जमा दिया.

अपनी बातों को बयान करते समय उसके दिल की ईमानदारी उसके चेहरे पर बिल्कुल साफ़ दिखाई दे रही थी. पर उसकी यह बात सुनकर मुझे कुछ गुस्सा आ गया. मैंने थोड़ा ज़ोर से कहा, 'सज़ा देंगे. किस बात की! धोबियों के लड़के ने ब्राह्मणों की लड़की से शादी कर ली तो इसमें भी धोबियों को ही परेशानी हो गयी?'

'मालिक, जात से बाहर शादी तो जात से बाहर शादी ही है, फिर वह चाहे किसी की भी लड़की क्यों न हो? बिरादरीवाले इसे मंज़ूर नहीं करते हैं. अगर बिरादरी

के सभी लौंडे ऐसा करने लगे तो बिरादरी की लड़कियों का क्या होगा?' बुलाकी ने बिना किसी लाग-लपेट के अपनी बात बोल दी.

मुझे समझ नहीं आया कि इतनी सीधी बात का क्या जवाब दूं? मैं खामोश रह गया. बुलाकी ने अपने सामने पड़े मैले कपड़ों को पोटली में बांधा और उसे कंधे पर टांग कर 'राम-राम' कहता हुआ घर से चला गया.

उसके अगले रविवार को बुलाकी नहीं आया था. उसका कोई भतीजा कपड़े लेकर आया था. उसी से पता चला कि इस बीच उनकी बिरादरी की पंचायत हुई थी. पंचायत ने बुलाकी के ऊपर पांच हजार रुपये नक़द तथा पूरी बिरादरी को खाना खिलाने का जुर्माना ठोंका था.

उसके बाद के रविवार की सुबह हम सब अपने-अपने आलसीपने में व्यस्त थे. तभी 'राम-राम मालिक' की ज़ोरदार आवाज़ सुनाई दी. देखा कि कंधे पर पोटली लटकाये बुलाकी घर में धमाधम करता प्रवेश कर रहा था. उसके तांबई रंग के चेहरे पर वही पुरानी चमक खिल रही थी.

पोटली नीचे पटक कर, वह ज़मीन पर अपनी वज़ासनी मुद्रा में बैठ गया. मैं अंदर के कमरे से बाहर आया तो मुझे देखकर उसने एक बार फिर से 'राम-राम मालिक' का नारा लगाया. मैंने कुर्सी पर बैठते हुए पूछा, 'और बुलाकी कैसे हो? बड़े खुश लग रहे हो. तुम्हारी वो लड़के की शादी वाली परेशानी निपट गयी?'

बुलाकी के चेहरे पर खुशी उभर आयी. चहकते हुए स्वर में बोला, 'बड़ी आसानी से निपट गयी मालिक.'

मैंने कहा, 'क्या खाक आसानी से निपटी. मुझे पता है कि तुझ पर पूरी बिरादरी को खाना खिलाने और पांच हजार रुपये का जुर्माना हुआ है.'

'मालिक यूँ समझो कि लौंडा अगर हमारे कहने से शादी करता जब भी तो पूरी बिरादरी को खाने को न्यौतना पड़ता ही और इसमें भी बिरादरी के चौधरियों को दारू-शारू पिलानी ही पड़ती. रही नक़द जुर्माने की बात तो वह भी ठीक ही रहा,' उसके चेहरे पर कुछ सयानेपन के भाव उभरे, बोला, 'वो तो दस कह रहे थे पर मैंने रो-धोकर उन्हें पांच हजार में मना लिया.'

‘पर इसके लिए पैसा कहां से आया?’ मैंने पूछा. वह बोला, ‘एक आसामी से पंद्रह हजार का कर्ज लिया है. धीरे-धीरे चुका दूंगा.’

‘इसके लिए तो तुम्हें काफ़ी मेहनत करनी पड़ेगी. मैंने अपनी हमदर्दी जतानी चाही.

‘मेहनत से कौन डरता है मालिक.’ बुलाकी के चेहरे पर हिम्मत के भाव थे, बोला, ‘अब मैं और मेरी औरत दोनों मिलकर दबादब इस्त्री करेंगे. कर्जा तो जैसे-तैसे चुक ही जायेगा पर यदि बिरादरी से बाहर कर दिये जाते तो सारी ज़िंदगी नकटा बनकर रहना पड़ता.’ यह कहते-कहते उसने अपनी नाक पर उंगली का चाकू भी चला दिया.

मैंने पूछा, और तुम्हारे लड़के-बहू का क्या हुआ? बुलाकी बोला, ‘वे दोनों भी राजी में हैं. लड़के ने अलग एक अच्छी बस्ती में घर ले लिया है, हमसे दूर. अब

दोनों अपनी ज़िंदगी चैन से जी रहे हैं. यह कहकर वह अचानक ज़ोर से हंसा और हंसते-हंसते मुझसे बोला, ‘मालिक आज तो आप ही गला तर करवा दो.’

उसकी इस बात पर मुझे भी हंसी आ गयी. मैंने उसका गला तर होने का इंतज़ाम किया. उसने अपने परिचित अंदाज़ में गिलास खाली किया और उठकर अपनी पोटली कंधे पर टांग ली. पर आज वह पीने के बाद चुपचाप नहीं गया. बल्कि ज़ोर से ‘राम-राम मालिक’ कहा और अपनी मूछों पर हाथ फेरता हुआ चला गया.

डी-२०४, संकल्प-२, पिंपरीपाड़ा,
फिल्मसिटी रोड,
मालाड (पूर्व), मुंबई-४०००९१
फ़ोन : ९८२९२८५९९४

गज़लें

अशोक 'अंजुम'

हम यहां बदले नहीं और वे वहां बदले नहीं,
वे अदाएं, वे ही जलवे, हुक्मरां बदले नहीं.
सह गये हर चोट मुंह से उफ तलक निकला नहीं,
हो गये हैं लोग सारे बेजुबां, बदले नहीं.
मुफलिसों की पीठ से उत्सव के मंज़र देखना,
ये सियासत के अजब हैं कारवां, बदले नहीं.
सैकड़ों वर्षों तलक कुछ यूं गुलामी में रहे,
झुक गयी फिर रीढ़ की हड्डी मियां, बदले नहीं.
उनको नफ़रत है हरेपन से हजारों साल से,
वे निकल पड़ते हैं लेकर आरियां, बदले नहीं.

ट्रक गेट नं. १,
कासिमपुर (पॉवर हाउस),
अलीगढ़-२०२१२७ (उ.प्र.)

अमर कांत निगम

हवा आ जा सके कुछ कोठरी में खिड़कियां रख दूं,
हवन कल है मेरे घर धूप में कुछ लकड़ियां रख दूं,
डगर घर की मेरे टेढ़ी, और उनके पावों में मेंहदी,
बिछा के राह में आंखें गुलाब और तितलियां रख दूं,
उछाले से अगर कुछ उनके दिल को चैन आता है,
ठहरिए पावों में उनके मैं फिर सौ पगड़ियां रख दूं,
अंधेरे उनके सपनों में भी आने का न दम भर लें,
सिरहाने उनके कुछ आकाश की मैं बिजलियां रख दूं,
सुना है जब से, उनको शौक है खंजर चलाने का,
मैं सोचूं हूं कलेजा सामने या पसलियां रख दूं,
हुआ है खून दिल का और लहू टपके है आंखों से,
इशारा है मगर उनका मैं मुंह पर उंगलियां रख दूं.

३५९/३३/१७, कटरा खुदामार खां,
सआदतगंज, लखनऊ-२२६००३

मौत का खेल

उस दिन बाज़ार में अचानक यह ख़बर जंगल की आग की तरह फैल गयी कि एक भिखारी ट्रक के नीचे आ गया. उसकी मौत हो गयी.

ट्रक लाला लक्ष्मी नारायण की गद्दी में अनाज उतारकर आगे बढ़ा ही था कि भिखारी उसकी चपेट में आ गया.

जिसने भी सुना लक्ष्मी नारायण के अनाज की गद्दी की तरफ दौड़ पड़ा. देखते-देखते ट्रक के समीप खासी भीड़ इकट्ठी हो गयी.

भीड़ की टोली विस्फारित नेत्रों से इस दुर्घटना को देख रही थी. ट्रक के पास भिखारी की खून से लथपथ लाश पड़ी थी. लाश के चारों ओर खून बिखरा हुआ था. ट्रक के पहियों से भिखारी बुरी तरह से कुचल गया था. वहां का दृश्य बहुत ही हृदयविदारक और कारुणिक था.

ट्रक के ड्राइवर और खलासी भाग गये थे. लाला लक्ष्मी नारायण भी गद्दी बंदकर नौकर-चाकर सहित रफुचक्कर हो गया था. पुलिस के लफ़ड़ों में फंसने के भय से. वहां पर की अन्य दुकानें भी मशीनी गति से बंद हो गयीं.

चतुर्दिक कोलाहल मचा था. लोग तरह-तरह की बातें कर रहे थे.

भीड़ में से एक औरत ने कहा, 'बेचारा आया था भीख मांगने... पेट की आग शांत करने, पर स्वयं ही शांत हो गया... ड्राइवर ने चाप कर कैसे मार दिया... हाय!...हाय!... इसके बाल-बच्चों का क्या होगा... हे भगवान!... ऐसे ड्राइवर का नाश हो जाये.... जरा भी रहम नहीं आया....'

उस औरत की बगल में खड़े एक व्यक्ति ने कहा, 'रहम क्या आवेगा बहनजी!... आजकल ड्राइवर होश में गाड़ी थोड़े ही चलाते हैं.'

कई लोगों ने उसकी बातों का समर्थन करते हुए कहा कि उसकी बातें शत-प्रतिशत सही हैं.

एक बुजुर्ग ने दार्शनिक अंदाज में कहा, 'भाइयों!... जिसको जिस विधि जाना है, चला ही जायेगा, उसे कोई रोक नहीं सकता!...' क्षणभर रुककर हाथ से मृतक की ओर इशारा करते हुए उसने पुनः कहा, 'बेचारा क्या जानता था कि आज वह इस दुनिया से विदा हो जायेगा.... हे राम!'

कुछ युवक गंभीरता से इस घटना का आकलन कर रहे थे.

एक औरत ने परेशानी भरे स्वर में कहा, 'हमसे देखा नहीं जा रहा है मीना की मां.... कुछ देर और ठहर गये तो हमको चक्कर आ जायेगा... हम चलें,' कहती हुई वह वहां से चली गयी.

// मुकुंद लाल //

एक सामाजिक कार्यकर्ता इस दृश्य को देखकर उबल पड़ा, 'क्या ज़माना आ गया भाइयों!... आदमी पेट की खातिर अपनी बलि चढ़ा रहा है. पेट के चलते उसकी जान जा रही है, दूसरी ओर गोदामों में अनाज सड़ रहा है. स्टेशनों पर हज़ारों बोरा अनाज बर्बाद हो रहा है, उसमें कीड़े लग रहे हैं... कोई देखने वाला नहीं है. आदमी भूख से मर रहा है. समाज का वरिष्ठ कहलाने वाला नागरिक भीख मांगने पर मजबूर है अपनी क्षुधा शांत करने के लिए.

भीड़ में से एक अथेड़ उम्र के व्यक्ति ने उसकी बातों पर अपनी सहमति जाहिर करते हुए कहा, 'भाई साहब!... इस देश का भगवान ही मालिक है... चारों ओर भ्रष्टाचार का ही बोलबाला है, जिसको जहां मौका मिलता है. इस देश को लूटने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ता. नित नये-नये घोटालों का पर्दाफाश हो रहा है... ऐसी स्थिति में गरीब-गर्बा की हालत बद से बदतर होती जा रही है. इस महंगाई में.'

जिसके मन में जो विचार आ रहा था वह अपनी जुबान से बेबाकी से प्रकट कर रहा था. कोई उसकी

दर्द-भरी जिंदगी का काल्पनिक चित्र शब्दों के माध्यम से उकेर रहा था तो कोई सरकार से मृतक के परिजन को मुआवजा दिलवाने की बातें कर रहा था. कोई अनामंत्रित सलाह प्रशासन को दे रहा था कि ऐसा प्रबंध करना चाहिए जिससे भविष्य में ऐसे हादसे टाले जा सकें.

लोग मृतक के बारे में तरह-तरह से उदगार व्यक्त कर रहे थे. उसके परिवार की दुखद व कष्टदायी परिस्थिति की कल्पना कर रहे थे वे लोग. पर शायद ही किसी को उस बुजुर्ग की वास्तविक स्थिति का पता था. कौन जानता था उस भीड़ में कि कैसे वह जी रहा था. क्यों मंडराता था वह ट्रक के पास?

□

उसका भी कभी भरा-पूरा परिवार था लेकिन समय के थपेड़ों ने ऐसे दुर्दिन दिखाये कि उसे अपना और अपनी रुग्ण पत्नी का पेट भरना भी मुश्किल हो गया.

बरतु जब जवान था तो हाड़तोड़ मेहनत करके अपने परिवार की परवरिश करता था. एक तरह से सोचा जाये तो जीवन का स्वर्णिम समय था वह. हालांकि उसके पास न खेत था और न ही कोई व्यवसाय. बाप-दादों के समय से ही चली आ रही मज़दूरी की परंपरा का वह भी निर्वाह करता चला आ रहा था. अंतर मात्र इतना था कि उसके पूर्वज किसी संपन्न किसान के जरखरीदार गुलाम थे और वह अपने जीवन-काल में ही इससे मुक्त हो गया था.

वह अपने गांव के पड़ोसी शहर में कभी बोझ ढोता, कभी ठेले से व्यवसायियों का माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाता. कभी परदेस में हाथ रिक्शा खींचता तो कभी अपने गांव के खेतों में भी मज़दूरी कर लेता यानी जब जैसा, तब तैसा. सौ बात की एक बात यह कि अपने छोटे से परिवार का भरण-पोषण करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ता. उसके परिवार में उसकी पत्नी, दो लड़के और एक लड़की थी.

लेकिन जीवन का वह काल खंड समाप्त हो गया था. बाल सफ़ेद होने लगे थे. चेहरे पर झुर्रियों ने अपना स्थान बनाना शुरू कर दिया था. गठीली मांसपेशियों की कठोरता घटने लगी थी. दैनिक ऊर्जा में हास होने लगा था. आंखों ने मोतियाबिंद को आमंत्रित करके रहने की स्वीकृति प्रदान कर दी थी. घुटनों का दर्द



हनुमंत

१५ अगस्त १९४७, हसुआ (नवादा), बिहार;
बी.एससी., बी.एड.,

- लेखन** : कहानी, लघुकथा, नाटक, एकांकी, निबंध आदि विधाओं में लेखन. देश की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित. आकाशवाणी के रांची और हज़ारीबाग केंद्र से कहानियों का प्रसारण.
- प्रकाशन** : एक कहानी-संग्रह 'निर्णय' प्रकाशित. पांच कहानी-संग्रह, एक लघुकथा-संग्रह व दो नाटक संग्रह प्रकाशन के लिए तैयार.
- विशेष** : बीस वर्षों तक विद्यालय पत्रिका 'चिंगारी' का संपादन, पच्चास वर्षों तक विद्यालय के नाट्य क्लब का निर्देशन.
- संप्रति** : सेवा-निवृत्त शिक्षक, स्वतंत्र लेखन.

समय-समय पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराकर सच्चे मित्र होने का प्रमाण देने लगा था.

जीवन के इस पड़ाव पर आते-आते उसके लड़के भी जवान हो गये, और जैसा कि अमूमन होता है ऐसे परिवारों में, दोनों युवा पुत्र अपनी-अपनी पत्नियों के साथ परदेस निकल गये, कमाने-खाने के लिए. बेटे ब्याह के बाद ससुराल चली गयी. बच गयी घर में बुजुर्गों की जोड़ी. गुलजार रहने वाला झोपड़ीनुमा घर वीरान हो गया था.

प्रारंभ में उसके लड़के दो-चार महीनों के अंतराल पर कुछ रुपये मनीऑर्डर से घर भेज दिया करते थे, पर इधर सालभर से एक पैसा भी नहीं आया था और न कोई चिट्ठी-पत्री.

जैसे पूर्णिमा की चकाचौंध कर देने वाली चांदनी में मधुमक्खियां अपने छत्ते से मधुपान कर छत्ते को छोड़कर उड़ जाती हैं कुछ इसी अंदाज में युवा पुत्रों ने

कथाबिंब/ जनवरी-मार्च २०११ ।। २२।।

घर को त्याग दिया था, अपने हाल पर जीने के लिए छोड़ दिया था अपने बुजुर्ग मां-बाप को.

बरतु का शरीर गिर गया था. काम करने में वह असमर्थ था. यही स्थिति उसकी पत्नी दशमी की भी थी. दशमी तो हर वक्त खाट पर ही पड़ी रहती थी. उसके चलने-फिरने की शक्ति जवाब देने लगी थी.

उस दिन दोनों पति-पत्नी को खाये हुए तीन शामें हो गयी थीं. जब भूख की आग की तपिश से वह बेचैन हो उठा तो वह खाट पर बैठा नहीं रह सका, वह उठकर अपनी झोपड़ी में चहल कदमी करने लगा. उसी क्रम में उसने बारी-बारी से मटकों, टीनों और थैलों का मुआयना किया लेकिन सब के सब खाली पड़े थे. किसी में भी न अनाज था, न सब्जी थी और न अन्य सामग्री थी. उसे एक पॉलिथीन में महज नमक दिखा.

जठराग्नि को शांत करने के लिए एक गिलास पानी में चुटकी भर नमक डालकर वह पी गया और अपनी पत्नी दशमी को भी पानी और नमक का घोल पिला दिया.

थोड़ी देर के बाद भूख की विभीषिका से त्रस्त दशमी ने खाट पर लेटे-लेटे ही कहा, 'पानी पीकर कितना दिन रहेंगे... अब मरने के सिवा कोई रास्ता नहीं बचा है... भूख से तड़प-तड़पकर मरने से अच्छा है तालाब में डूबकर मर जाना....'

क्षणभर के लिए बरतु दशमी का चेहरा देखता रह गया किंतु उसके बोल नहीं फूटे.

दशमी ने पुनः कहा, 'अब हमारा मुंह का देख रहे हो, हम ठीक कह रहे हैं...'

'ई का कहती हो दशमी!.... अइसन बात मत कह!... हिम्मत रख!... हम कुछ न कुछ करेंगे... खाना का जुगाड़ बैठावेंगे!... धीरज रख!.. हम भूख से नहीं मरने देंगे तुमको.' कहते-कहते उसकी आंखें भर आयीं.

अपनी पत्नी से नज़रें बचाकर उसने अंगोछे से आंखों को पोंछ लिया.

भीख मांगकर परवरिश करने की बात भी उसके दिमाग में आयी. जब इस पर उसने गंभीरता से सोचा तो उसे समझ में आया कि जिस गांव में अधिकांश ग्रामीणों की ज़िंदगी फटेहाली और बदहाली से ग्रस्त है, उस गांव में कौन उसे रोज-रोज भीख देगा. भिखारियों की बस्ती में भीख की उम्मीद करना उसे अटपटा सा

लगा.

भूख तो भूख है जब तक उसकी आग शांत नहीं होती है, उसकी प्रचंड तपिश से मनुष्य के अंतस्तल में बेचैनी और व्यथा का साम्राज्य कायम रहता है. उसकी ज्वाला में समुद्र के ज्वार-भाटों के समान आवेग सन्निहित रहता है जो इंसान को जटिल से जटिल काम करने के लिए प्रेरित करता है. वह असंभव को भी संभव बनाने का प्रयास करता है.

बरतु की देह में उतनी ताकत तो नहीं थी, फिर भी बुभुक्षा के वशीभूत उसके कदम अनायास ही उस गांव के बगल में कुछ दूरी पर स्थित बाज़ार की ओर बढ़ गये.

बाज़ार पहुंचते-पहुंचते ही वह थक गया था. उसकी सांस धौंकनी की तरह चलने लगी थी. वह एक चबूतरे पर बैठ गया.

उसके सामने एक गल्ले की दुकान के पास एक ट्रक लगा था, जिससे अनाज के बोरे उतारे जा रहे थे.

बरतु टक-टकी लगाये थोड़ी देर बोरों को देखता रहा, जिसको हट्टे-कट्टे मजदूर की टोली उतार रही थी. उसको कुछ पल के लिए अपना जमाना याद आ गया जब वह एक झटके से बोरे को पीठ पर लाद लेता था और निश्चित स्थान पर पहुंचा देता था, किंतु वह सब तो अतीत की अंधेरी गुफा में विलीन हो गया था.

उसने सोचा कि चलो बोरों से गिरते अनाज के दानों को ही चुन लेगा, कुछ तो राहत मिलेगी. पर उसकी सोच भी व्यर्थ साबित हुई. वह डगमगाते कदमों से ट्रक के पास पहुंचा. जब गिरे हुए अनाज के दानों को चुन लेने की याचना की तो व्यवसायी के कारिंदे ने डांट दिया. उसने झिड़कते हुए कहा, 'हट!... भाग यहां से... एक ट्रक अनाज उतारने में दो-चार किलो अनाज गिरता ही है उसे तुम ले जाओगे मुफ्त में... बहुत होशियार मालूम पड़ते हो... कितना दाम होता है इस महंगाई में पता है... भागो यहां से.'

बरतु वहां से खिसक गया.

वह सोचता रहा कि क्या किया जाये कि अपना और अपनी मेहरारू की परवरिश कर सके.

उसके दिमाग में बात आयी कि पेट की खातिर लोग क्या नहीं करते हैं. जान हथेली पर रखकर बड़े-बड़े खतरों से खेलते हैं. मौत के कुएं में मोटर सायकिल

चलाते हैं. देह में आग लगाकर पानी में कूदते हैं. खतरनाक ऊंचाई पर तनी हुई पतली रस्सी के ऊपर बिना सहारे के चलते हैं. विशाल पत्थर को अपने सीने पर रखवाकर भारी हथौड़ों के भीषण प्रहार से तुड़वाते हैं. खंभों के सहारे तने हुए तार पर सायकिल चलाते हैं. मौत की परवाह किये बिना पहाड़ों के शिखरों से कमर में रस्सा बांधकर छलांग लगा देते हैं..... और जाने क्या-क्या करते हैं. खतरनाक से खतरनाक कारनामों को अंजाम देते हैं. तो क्या वह कुछ ऐसा ही करके अपना और अपनी ज़नाना का पेट नहीं भर सकता है, पर ऐसा करने के लिए इल्म चाहिए. खतरा मोल लेने के लिए हिम्मत चाहिए और चाहिए मन में आशा और विश्वास. इसके लिए शरीर में ताकत चाहिए और चाहिए लंबा अभ्यास.

वह ऐसा नहीं कर सकता किंतु पेट की खातिर वह मौत का कोई खेल तो खेल ही सकता है. ऐसे भी कुछ शाम और खाना नहीं मिला तो चलना-फिरना मुश्किल हो ही जायेगा और एक दिन भूखा मरना ही पड़ेगा और मेरी ज़नाना भी मरेगी.

□

पहला ट्रक गद्दी में अनाज उतारकर चला गया था. अचानक उसने देखा कि अनाज के बोरो से भरा एक दूसरा ट्रक उसी अनाज की गद्दी के पास आकर लग गया.

वह चबूतरे पर खड़ा हो गया. कुछ पल तक तरसती निगाहों से अनाज के बोरो को देखता रहा, फिर एक झटके से बोरो पर से ध्यान हटाकर कुछ सोचने लगा. सहसा उसके मस्तिष्क-पटल पर विचार कौंधा कि क्यों नहीं वह इस ट्रक के आगे सड़क पर लेट जाये. पेट की खातिर तो इतना जोखिम उठाना ही पड़ेगा. कुछ कर गुजरने की हिम्मत से वह लवरेज हो गया.

वह ट्रक के आगे लेट गया. उसी तरह निःश्वल भाव से पड़ा रहा सड़क पर वह घंटे भर.

अनाज ट्रक से उतार लेने के बाद ट्रक खुलने की बारी आयी तो खलासी यह देखकर भौंचक्का रह गया कि ट्रक के आगे एक बूढ़ा लेटा हुआ है.

खलासी ने बरतु से कहा कि ट्रक खुलने वाला है,

वह वहां से उठ जाये. किंतु वह सड़क पर से उठने के लिए तैयार नहीं हुआ. उसने दो-चार बार आग्रह किया पर वह अपने इरादे से टस से मस नहीं हुआ.

अंततोगत्वा खलासी ने ड्राइवर से इस बाबत बात की. ड्राइवर क्रोध से तिलमिला उठा. वह तेज क़दमों से चलकर बरतु के पास आया. उसने गुस्से में डांटते हुए कहा, 'अरे!....ओ नौटकी!... हटो ट्रक के आगे से...ट्रक तुम पर चढ़ा कर ले जायें...ऐ!....मरेगा और हम लोगों को फंसायेगा... हटो यहां से....'

'हम दो दिनों से भूखे हैं बाबू!...कुछ दे दो अनाज या पैसा.' गिड़गिड़ाते हुए बरतु ने कहा.

'अनाज कहां से देंगे हम.... अनाज क्या मेरे बाप का है. जिसका था उसके यहां चला गया... हटो जल्दी यहां से देर हो रही है, नहीं तो सड़क पर से उठवाकर फेंकवा देंगे.... उग्र का लिहाज करके तुम्हें बोलकर समझा रहे हैं.

बरतु ने सड़क पर लेटे हुए ही हाथ जोड़कर कहा, 'कुछ दे दो बाबू... भगवान तुम्हारा भला करेगा.'

ड्राइवर और खलासी ने बार-बार डांटा, फटकारा और धमकी दी पर वह उठने के लिए राजी नहीं हुआ.

तैश में बरतु ने सड़क पर लेटे हुए ही कहा, 'वैसे भी भूखे मरेंगे, इससे अच्छा है कि ट्रक हमरी देह पर से चढ़ाकर निकाल लो.'

ट्रक के आगे लोगों की भीड़ जमा हो गयी थी. कोई बरतु को सिरफिरा कह रहा था तो कोई भुक्कड़. कोई उसे भूख से त्रस्त, हताश और बेहाल आदमी की संज्ञा से विभूषित कर रहा था तो कोई उसे कामचोर और हरामखोर कह रहा था.

ड्राइवर और खलासी हक्का-बक्का होकर बरतु को देख रहे थे.

ड्राइवर ने विवश होकर पांच रुपये का सिक्का उसकी ओर फेंकते हुए कहा, 'लो!...उठो अब... जाओ कुछ खा-पी लेना.'

उस पर रहम खाकर भीड़ में से भी कई लोगों ने उसकी ओर सिक्के फेंके

बरतु सड़क पर से उठ गया था. ट्रक हॉर्न बजाता हुआ वहां से चला गया था.

फिर क्या, बरतु यही मौत का खेल खेलकर

अपना और दशमी का पेट भरने लगा.

उस बाज़ार के लोग अक्सर कहा करते थे कि बरतु अपने पेट की खातिर प्रत्येक दिन जो खतरनाक खेल खेलता है उसमें किसी दिन उसकी जान भी जा सकती है.

कभी-कभार कोई उसे ऐसा करने से मना करता तो वह बेबाकी से जवाब देता कि वह अपना मौत का खेल बंद कर देता है, क्या वह उसके और उसकी पत्नी की परिवारिश की जिम्मेवारी लेने के लिए तैयार है? तब उसका उत्तर सुनकर वह आदमी ठगा-सा उसका चेहरा देखता रह जाता था, फिर उससे आगे कोई बात करने की हिम्मत नहीं पड़ती थी.

जैसा लोगों को अनुमान था वैसा ही हुआ. गफलत में उस दिन उसकी जान सचमुच चल गयीं.

उस दिन ट्रक के ड्राइवर को होश नहीं रहा कि ट्रक के आगे कोई बुजुर्ग भिखारी लेटा हुआ है या जल्दबाजी में था या घंटे भर से लेटे हुए बरतु को नींद आ गयी थी... कहना मुशकिल था.

सच्चाई यही थी कि जब तक लोग ट्रक के पास पहुंचते तब तक बरतु के प्राण पखेरु उड़ चुके थे.

डीपूगढ़ा,
शिव मंदिर के पास,
हजारीबाग-८२५३०९

कविता

काशीनाथ सिंह मुंबई में

अन्वेषी

महेश्वर से मल्लयुद्ध करते हुए वह धूमिल का सगा कल आया था मुंबई, पूरा अस्सी लेकर जहां न शिवप्रसाद थे न आचार्य द्विवेदी, था तो सिर्फ वही मस्तीखोर टाइमपास एटम जिसे शिद्धत से झेल रहा था अपना अस्सी. अपने-अपने मोर्चे पर मस्त-व्यस्त सदी के सभी बड़े आदमी पहुंच रहे थे बनारस और वह काशी आज भी खड़ा था काशी में बच्चन सिंह के साथ	गंभीर होने के डर से वह चला गया शिवकरण के पास रस लेने और खींच लाया पूरे के पूरे वामपंथ की सड़क पर, हर हर महादेव के बाद बनारसी आशीर्वाद बांटते हुए फिर रहे साठोत्तरी कथाकार जब धुत्त होते हैं कविता की नयी तारीख में, हम देख लेते हैं ब्रेख्त चेख्रव	और फिराक एक साथ एकजुट! गोरख से हाथ मिलाने की हिम्मत करता हुआ बहादुराना संघर्ष जब ओड़ता है सुरक्षा कवच नज़रों से बच के बचा के चित्त को कर रहा है हवाले चित्रपट के अस्सी के आसपास, धम्मपद से वामपंथ की सुखद-यात्रा में कहां घूट गये आचार्य शुक्ल उत्तर गायब है.
---	---	---

□□□

९९ई, सराह विला-२, बाज़ार रोड़, बांद्रा, मुंबई-४०००५०.

कथाबिंब/ जनवरी-मार्च २०११ ॥२५॥

आजकल

दरवाजे पर किसी ने हल्की-सी दस्तक दी. दरवाजा अंदर से बंद है. अब क्या करे? मन नहीं है उठने का और किसी से बात करने का, पर उठकर खोलना तो पड़ेगा. क्या पता, प्रणव ही हो और कुछ भूल गया हो, पर चाबी, रूमाल, फ़ाइलें सब याद रखकर दे तो दिये थे और प्रणव के जाते ही प्रतिमा ने दरवाजे का हैंडल लॉक किया और चिटकनी लगा ली थी. उसने उठकर चिटकनी खोली तो दरवाजे पर अपरिचित महिला खड़ी थी. वह मात्र चेहरे से पहचान रही थी कि वह उसके सामने वाले फ्लैट में रहती है. प्रणव के आने और जाने के वक्त प्रतिमा ने दरवाजा खोलते हुए या बंद करते वक्त इस महिला को बालकनी में खड़े देखा है. दरवाजे को पकड़े प्रतिमा उलझन में थी, आइए कहूं या नहीं?

“हलो! मैं मिसेस कुलकर्णी आपके सामने वाले फ्लैट में...” आगतुक महिला ने बातचीत शुरू की.

“ओह, हां! आपको बालकनी में खड़े देखा है, आइए.” प्रतिमा सहज होने की कोशिश के साथ दरवाजे से हटकर अंदर आ गयी. घर की सजावट का मुआयना करती पड़ोसन मिसेस कुलकर्णी ने ड्राइंगरूम में प्रवेश किया.

“एक महीना हो गया, जबसे आप लोग रहने आये हैं, रोज सोचती हूं, आपसे मुलाकात करने की, पर जब फुर्सत होती है आपका दरवाजा बंद रहता है. लगता है, आप व्यस्त होंगी या आपके आराम का समय होगा. यही सोचकर आते-आते रुक जाती हूं.” बिना किसी औपचारिक भूमिका के उन्होंने बातचीत की भूमिका शुरू कर दी.

“सोचा तो मैंने भी था आपके घर आने का, पर सोचती ही रही. इधर थोड़ी तबीयत भी ठीक नहीं है, इसीलिए आलस कर गयी.” कहने को कह गयी, पर लगा तबीयत वाली बात नहीं बतानी चाहिए थी.

“क्या हुआ आपकी तबीयत को?” मिसेस कुलकर्णी ने विस्मय से प्रश्न किया.

फंस गयी थी मैं! पर कुछ तो बोलना था सो कह

दिया, “कुछ ख़ास नहीं, यूं ही थोड़ी सुस्ती रहती है आजकल.”

“अच्छा समझी...खुशखबरी है, क्यों? अरे भई, बतलाना तो चाहिए हारी-बीमारी में पड़ोसी पहले काम आते हैं.”

चेहरे पर प्रसन्नता के मिले-जुले भाव ने स्वतः उत्तर दे दिया था.

“कितने दिन चढ़े हैं?” मिसेस कुलकर्णी ने जिज्ञासावश पूछा.

“पांचवा महीना है.” प्रतिमा ने पांच माह कहा तो, पर एक बार मन ही मन स्वयं को टटोला. यह बात बतानी चाहिए थी या नहीं. कल को यह शादी के लिए पूछेगी तो? एक निरर्थक-सी चिंता से माथा ठनका. पर चिंता निरर्थक नहीं थी. मिसेस कुलकर्णी ने अगला प्रश्न पूछ ही लिया, “पहला बच्चा है?”

॥ डॉ. स्वाति तिवारी ॥

“हां.” कहकर प्रतिमा चाय-पानी की व्यवस्था के बहाने वहां से उठकर रसोई में आ गयी. मन ही मन विचार करते हुए कि चाय लेकर आऊंगी तो बातचीत का विषय बदल दूंगी. उनके बातचीत के विधान मेरी व्यक्तिगत ज़िंदगी को सेंध लगायें, यह मुझे मंजूर नहीं था. इसी ऊहापोह में बाहर की गर्मी और मन का तापमान एक-सा लगा, अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व और मुक्त विचारधारा में भय के बादल देख प्रतिमा बेचैन हो उठी, पर यह कैसा भय? चाय की ट्रे लेकर लौटी तो देखा, मिसेस कुलकर्णी कॉर्नर टेबल पर रखी उसकी और प्रणव की तस्वीर देख रही हैं. उसे देखते ही उत्साह से पूछ ही बैठीं, “यह फ़ोटो आपके हनीमून की होगी, है न? बहुत सुंदर आयी. कहां गये थे हनीमून पर?”

“जी ये....SS...” प्रतिमा सकपका गयी पर बात संभाल ही ली. यह फ़ोटो सिंगापुर की है. हम यूं ही घूमने गये थे तब की है.” कह तो दिया उसने, पर हनीमून और डेटिंग का फ़र्क आज एकदम सामने आकर



डॉ. स्वाति तिवारी

१७ फरवरी १९६०, धार (मध्यप्रदेश);
एम. एससी., एल. एल. बी.,
एम. फ़िल, पीएच. डी.

- लेखन** : मध्यप्रदेश और देश की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में लेख, कहानी, व्यंग्य, समीक्षा, रिपोर्टाज, यात्रा-संस्मरण, कविताओं आदि का नियमित प्रकाशन, आकाशवाणी, दूरदर्शन और निजी टी. वी. चैनलों पर रचनाओं का प्रसारण-पटकथा लेखन.
- प्रकाशन** : 'क्या मैंने गुनाह किया', 'छः-जमा तीन', 'मुड़ती है यूं ज़िंदगी', 'जमीन अपनी-अपनी', 'विश्वास टूटा तो टूटा', 'मैं हारी नहीं', 'बैंगनी फूलों वाला पेड़', 'हथेली पर उकेरी कहानियाँ' (सभी कहानी-संग्रह); वृद्धावस्था के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर केंद्रित दस्तावेज 'अकेले होते लोग' और महिलाओं के क़ानून से संबंधित महत्वपूर्ण पुस्तक 'मैं औरत हूँ मेरी कौन सुनेगा.'; **स्तंभ लेखन** : 'हमारे आस पास' (दैनिक भास्कर); 'महिलाएं और क़ानून' (दैनिक फ़्रीप्रेस, अंग्रेज़ी), 'आखिरी बात' (चौथा संसार), 'आठवां कॉलम' एवं 'अपनी बात' (चेतना).
- शोधकार्य** : महिलाओं पर पारिवारिक अत्याचार एवं परामर्श केंद्रों की भूमिका (एम. फ़िल के लिए शोध प्रबंध); प्राथमिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण में राजीव गांधी शिक्षा मिशन की भूमिका (पीएच.डी. शोध कार्य); अकेले होते लोग- वृद्धावस्था पर मनोवैज्ञानिक दस्तावेज; भोपाल गैस त्रासदी एवं स्त्रियों की सामाजिक समस्याएं (प्रकाशनार्थ).
- विशेष** : मध्यप्रदेश की कलाजगत हस्ती कलागुरु विष्णु चिंचालकर पर निर्मित फ़िल्म का पटकथा-लेखन, संपादन और सूत्रधार; इंदौर स्थित परिवार परामर्श केंद्रों पर आधारित लघु फ़िल्म 'घरौंदा ना टूटे' (निर्माण, संपादन और स्वर).
- पुरस्कार** : पं. रामनारायण शास्त्री कथा पुरस्कार; स्व. गोपीकृष्ण गुप्ता पत्रकारिता स्मृति पुरस्कार (श्रेष्ठ रिपोर्टिंग); शब्द साधिका सम्मान (पत्रकारिता पुरस्कार); निर्मलादेवी स्मृति साहित्य सम्मान, गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश); माधवराव सिंधिया प्रतिष्ठा सम्मान; हिंदी प्रचार समिति, जहीराबाद (आंध्रप्रदेश) द्वारा सेवारत्न की मानद उपाधि; पं. आशा कुमार त्रिवेदी स्मृति मालवा-भूषण सम्मान; मध्यप्रदेश लेखक संघ द्वारा स्थापित देवकीनंदन साहित्य सम्मान; अंबिकाप्रसाद दिव्य रजत सम्मान; भारतीय दलित साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश का सावित्रीबाई फुले साहित्य रत्न सम्मान.
- अन्य** : कुरुक्षेत्र वि. वि. हिमाचल प्रदेश और देवी अहिल्या वि. वि. इंदौर में कहानियों पर शोध कार्य. संस्थापक-अध्यक्ष इंदौर लेखिका संघ, इंदौर; दिल्ली लेखिका संघ की सचिव (वर्ष २००७-०८).
- संप्रति** : मध्यप्रदेश शासन में जनसंपर्क विभाग में अधिकारी (राज्य शासन के मुखपत्र मध्यप्रदेश संदेश में सहयोगी संपादक).

खड़ा हो गया. फ़ोटो हनीमून की होती तो कितने उत्साह से कहती वह, पर डेटिंग पर वह और प्रणव सिंगापुर गये थे और यह पांच माह का जीव तभी से उसकी कोख में है. क्यों नहीं खुलकर कह पायी यह कि वह बच्चा केवल उसका कहलायेगा. बग़ैर पुरुष के नाम के भी वह मां हो सकती है - एक स्वतंत्र मां. प्रतिमा ने चाय का प्याला पकड़ाते हुए बात बदलने के लिए पूछा, "आप कब से रह रही हैं इस फ़्लैट में?"

"जब मिस्टर कुलकर्णी ने मुझसे शादी की तब यह फ़्लैट वे बुक करवा चुके थे. किशतों पर लिया था. पांच साल पहले आखिरी किशत भरी."

"अच्छा, अच्छा."

"हां, नहीं तो क्या?"

"चलिए, घर का घर हो गया बंबई में और क्या चाहिए?"

"तुम्हें पता है प्रतिमा, मेरी भी पहली डिलीवरी यहीं हुई थी. बेटा हुआ था. फिर ऊपर वाले वर्माजी के यहां भी...." वे आप से तुम पर आ गयी थीं.

"अच्छा...." प्रतिमा मुस्करा रही थी.

"तुम लोगों ने फ़्लैट खरीदा या किराये पर लिया है?"

"अभी तो किराये पर लिया है. दरअसल हमारा फ़्लैट जुहू में है. फ़र्स्ट फ़्लोर पर प्रणव के मम्मी-डैडी का और नाइंथ फ़्लोर पर मेरी मम्मी का."

कथाबिंब/ जनवरी-मार्च २०११ | २७ |

“एक ही बिल्डिंग में ससुराल और मायका है. फिर इधर जुहू छोड़, अंधेरी में फ्लैट क्यों लिया. प्रेगनेंसी में घर के लोग साथ होने चाहिए.”

“बस यूँ ही. प्रणव ने फ्लैट ले लिया तो आ गये.” एक और झूठ, पर कब तक? कह क्यों नहीं दिया ससुराल का झंझट नहीं है. “फ्लैट थोड़े छोटे हैं, इसलिए इधर आ गये.” कहने को तो कह गयी, पर मन पर फिर एक बोझ लदने लगा. सास-ससुर, घर, ससुराल... ये सारे शब्द इतने वजनदार होते हैं क्या? क्यों लग रहा है जैसे वह चोरी करते पकड़ी जा रही है. ये रिश्ते...क्या उसके जीवन में हैं? क्या वह इन्हीं से नहीं भाग रही थी! रिश्तों के बंधन ही तो उसे पसंद नहीं थे. तो क्या रिश्तों के नाम होना जरूरी है? रिश्तों के नाम जीवन में इतना मायने रखते हैं? अगर नहीं रखते तो क्यों मन डर रहा है उस एक प्रश्न से जिसे नकार दिया था उसने और प्रणव ने भी. मां से झूठ बोलकर वह प्रणव के साथ सिंगापुर गयी थी एनसीसी के कैंप के बहाने. दिन और रात की डेटिंग थी वह. चांद जब होटल की खिड़की से आधी रात को झांकता तो पाता - प्रतिमा और प्रणव परमत्त, बेसुध, एक - दूसरे पर समर्पितनींद में होते.

पांच दिन के ही किसी क्षण, किसी लम्हे का फूल पांचवा महीना बन गया है. आजकल विवाह एक रूढ़ि है - मात्र दो देह के मिलन की रस्में! जब देह बगैर रस्मोरिवाज के एकाकार हैं तो विवाह का बंधन क्यों? जब मन चाहेगा, कहीं जाकर रह लेंगे साथ. अपनी-अपनी स्वतंत्रता की चाह में दोनों ने ही बंधन नकार दिये थे. पर क्या इस नकारने को सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर सकती है वह?

आजकल संबंधों को भी फैशन की तरह लिया जा रहा है - जब तक चले, चलाओ वरना आत्मा से उतार फेंको. अनचाहा बोझ नहीं चाहिए उन्हें...रिश्तों का बोझ.

चाय का प्याला खाली कर रखते हुए मिसेस कुलकर्णी ने वही सवाल खड़ा कर दिया. पूछ ही लिया वह प्रश्न जिससे प्रतिमा बचना चाहती थी. “कितने साल हुए ब्याह को?”

चेहरा सफेद पड़ गया प्रतिमा का. जवाब न देना पड़े इसलिए अनसुनी-सी करती वह उठने लगी, “जस्ट ए मिनट, शायद दूध की पतीली गैस पर रख आयी हूँ.

लेट मी चेक.” दूध गैस पर था ही नहीं, प्रश्न को टालना था, बस इसलिए उठी थी वह. सहज होने के लिए थोड़ा समय चाहिए था. वह टॉयलेट में चली गयी. अंदर की हलचल से उपजी घबराहट की तीव्रता को बाहर निकालना चाहती थी. वॉश-बेसिन के नल को खोल, पानी के छींटे मुंह पर मार, नेपकिन से चेहरा थपथपाती बाहर आयी. उसका चेहरा देख मिसेस कुलकर्णी ने सहज स्त्रीत्व के भाव से पूछा, “प्रतिमा! तुम्हें घबराहट हो रही है क्या? ऐसे समय नींबूपानी, नारंगी की गोली, दूध, ग्लूकोज लेती रहा करो.”

“हां लेती हूँ न....पर इस वक़्त रोज ही मुझे उबकाई आती है. आफ्टर दैट आय फ़ील अनकंपर्टेबल एंड आई फ़ील लाइक स्लीपिंग.”

“ओके, आई विल लीव नाऊ. जब तुम्हें अच्छा लगे तब आ जाया करना मेरे पास. अकेली परेशान नहीं होना. सबके साथ होता है, पति दफ़्तर चले जाते हैं, बड़ा अकेलापन लगता है. पास-पड़ोसी ही काम आते हैं. समय भी कट जाता है और दूसरों के अनुभव बड़े काम आते हैं पहली डिलीवरी में.”

प्रतिमा ने सोफ़े पर सिर टिका लिया, स्पष्ट था वह बातचीत करने के मूड में नहीं है. पर मिसेस कुलकर्णी आजकल की प्रतिमा तो नहीं न? वह तो उम्र की प्रौढ़ता की ओर हैं.

“कुछ अच्छा खाने का मन करे तो बता देना, समझी. भूखे नहीं रहना, ऐसे वक़्त पति का रास्ता नहीं देखना खाना खाने के लिए. जब मन करे, खा लिया करो. अच्छा, मैं चलती हूँ.”

भड़ाक से दरवाज़ा बंद किया प्रतिमा ने और कटे पेड़-सी पलंग पर पड़ गयी वह. जाने क्यों उसे लगा कमरे में वह अकेली नहीं है, कोई अब भी मौजूद है. उसने खुद दरवाज़ा लगाया है! कौन हो सकता है? फिर उसने पेट पर हाथ रखा तो अहसास की अजीब-सी लहर उसके तन-मन में तरंगित हो गयी. ‘ओह, तो वो दूसरे तुम हो कमरे में मेरे बच्चे.’ वह मुस्करा उठी, पर पलभर में ही चिंता का भाव फैलने लगा, ‘मेरे बच्चे...मेरे बच्चे.’ शब्द का अहसास उसके अंतर्मन पर छा गया, ‘मेरा बच्चा’ भी तो एक रिश्ता है, क्या इस रिश्ते को मैं या प्रणव अपने रिश्ते की तरह नकार पायेंगे कभी? मेरा बच्चा जब प्रणव कहेगा तो मैं क्या अपने बच्चे पर उसके अधिकार को रोक पाऊंगी? मेरी

कोख में पलने से वह मेरा बच्चा है। पर यह स्वतंत्र अस्तित्व की मृगतृष्णा कहीं बच्चे से उसके पिता का अधिकार ही न छीन ले? और जो प्रश्न मिसेस कुलकर्णी ने पूछा और मैं बताने से कतराती रही, कल को वही प्रश्न बच्चे से पूछ लिया तो?

शादी न करते हुए प्रणव के साथ सहजीवन के बावजूद, स्वतंत्र अस्तित्व की मृगतृष्णा में कहीं मैं भटक तो नहीं रही? सिर भारी हो गया सोच-सोचकर. मां ने कितना समझाया था - "शादी कर ले प्रणव से, फिर जो जी चाहे कर. बिना ब्याह के साथ रहने का चलन हमारे देश में नहीं है, प्रतिमा!" मां की बातें दिलो-दिमाग में घूमने लगीं. कितनी आसानी से भाषण झाड़ दिया था अपनी मां और प्रणव की मम्मी के आगे...क्या फर्क पड़ेगा शादी से? मुझे और प्रणव को साथ रहना है. हम प्यार करते हैं तो फिर रिश्ता प्यार का हुआ न? भंवरों या फेरों का क्या है? यदि मैं प्रणव का हाथ थाम लूं और तुम्हारे आस-पास घूमकर फेरे ले लूं तो क्या तुम साक्षी नहीं हो! अग्नि के फेरे एक परंपरा है. आडंबर से भरी. मैं रुढ़ियों को तोड़ रही हूं. कल को प्रणव मुझे बाध्य नहीं कर सकेगा अपनी मर्जी से हांकने के लिए, जैसे तुम्हें बाबूजी ने अपनी उंगलियों पर नचाया - ऊषा यहां बैठो, ऊषा जल्दी आ जाना, ऊषा टीवी बंद कर दो, नानी के घर मत जाओ."

"तू पागल हो गयी है, प्रतिमा...अपने पिता के लिए इस तरह कोई बोलता है?"

"नहीं मां, मैं पागल नहीं हूं. मैं पत्नी बनकर गुलामी नहीं करना चाहती. तुम्हारी इन सदियों से चली आ रही रीति-रिवाजों की परंपराएं स्त्री-पुरुष को केवल एक-दूसरे की गुलाम बनाती हैं. मैं घुटने टेकने वाली नहीं."

दोनों घर से बेदखल हो गये थे-प्रणव और प्रतिमा. फ्लैट किराये पर कहां मिलता उन्हें ब्याह के बगैर. सुधीर से प्रणव ने कहा और सुधीर ने फ्लैट देने की हान कर दी और प्रतिमा लिपट गयी थी प्रणव से.

प्रतिमा ने न मांग भरी, न मंगलसूत्र गले में डाला, न बिछिया पहनी, न मेहंदी लगायी, न हल्दी, न अग्नि के भांवर पड़ी, न कन्यादान के संकल्प छूटे, फिर भी वह प्रणव के जीवन में आ ही गयी और प्रणव का अंश उसकी देह में पल रहा है. पर यही देह का रिश्ता भांवरों के साथ होता तो...मां को बताना अच्छा लगता कि तुम

नानी बन रही हो. सात फेरे....प्रणव के साथ ले लेती तो...

दरवाजे पर उसे प्रणव के कदमों की आहट लगी. उठी, दरवाजा खोला. दरवाजे पर प्रणव ही था. अंदर आते ही उसने प्रतिमा को चूम लिया, "कैसी हो माय डियर डार्लिंग."

वह चुप रही.

प्रणव ने टाई ढीली करते हुए कहा, "प्रतिमा, प्रतिमा! तेज भूख लगी है, कुछ पकौड़े-वकौड़े बनाओ."

इच्छा नहीं थी प्रतिमा की...पर डिब्बे में बेसन ढूंढने लगी. कढ़ाई में हर छूटते पकौड़े की छन्न...उसके अंदर भी होती. क्या अंतर रहा उसमें और बीवी में?

पकौड़े के साथ हल्की-सी व्हिस्की प्रणव लेने लगा तो प्रतिमा ने रोका था, "नहीं प्रणव, मत लो."

एक-दूसरे की स्वतंत्रता को बनाये रखने का दावा करने वाले प्रणव और प्रतिमा क्या स्वतंत्र हैं ? हस्तक्षेप नहीं है उनका एक-दूसरे के जीवन में?

रात बिस्तर पर प्रतिमा आंखें मूंदे लेटी थी. प्रणव ने खींच लिया उसे बांहों में, "क्या हुआ, मैडम? बड़ी चुपचाप हैं...प्यार करने का मूड हो रहा है मेरा." उसका उत्तर सुने बगैर ही प्रणव...

प्रतिमा उठकर बैठ गयी. एक छत के नीचे, एक बिस्तर पर साथ रहते, सोते स्वतंत्रता को बचा पा रही है वह? अपने अस्तित्व को बचाये रखना संभव नहीं रहा. प्रणव अपनी इच्छापूर्ति के बाद करवट बदलकर सो गया, पर प्रतिमा का मंथन चलता रहा. एक प्रश्न आकर लेट गया उसके और प्रणव के बीच. क्या उसका बिन ब्याहे मां बनने का निर्णय ग़लत है? उसका प्रणव से रिश्ता...एक दैहिक सुख की मृगतृष्णा नहीं....

अगले दिन फिर मिसेस कुलकर्णी उसके दरवाजे पर थीं, "प्रतिमा थालीपीठ बनाया है. लो थोड़ा चखकर बताओ." प्रतिमा को चिढ़-सी आने लगी. बड़ी बोर औरत है. अनावश्यक हस्तक्षेप करने लगी है उसके जीवन में. फिर एक दिन दरवाजे पर मिसेस कुलकर्णी थीं, "प्रतिमा पूरनपोली बना रही हूं, चलो, वहीं एक, गरम-गरम पोली खा लो. जानती हूं, तुम्हें एकांत पसंद है, पर कुछ भी बनाती हूं तो तुम्हारा खयाल अपने-आप आ जाता है. मैं जब प्रेगनेंट थी तो कुलकर्णीजी की 'आई' पूरे टाइम साथ रहीं. सासु मां ने रोज नये पकवान खिलाये. तुम अकेली हो यहां, यही सोचकर

मन तुम्हारी तरफ दौड़ता है.”

“नहीं, नहीं, अच्छा लगता है मुझे भी.” पूरनपोली की थाली उठाते हुए प्रतिमा ने कहा.

“सातवें माह में सासु मां को बुलवा लेना. सातवां महीना थोड़ा रिस्की होता है. आठवें में नदी-नाले पार नहीं करना....तुम्हें मां ने बताया तो होगा न?”

“अच्छा, शाम को तुम्हारे पति को समझाऊंगी, अपनी मां को ले आयेगे.”

“वे नहीं आयेगी.”

“क्यों नहीं आयेगी? पोता क्या यूं ही मिल जायेगा?”

“.....SS....”

“बहू को लाड़-प्यार किये बगैर?”

“वे नाराज़ हैं.”

“तो अपनी मां को बुलवा लो?”

“वे भी नहीं आयेगी।”

“क्यों? भागकर शादी की थी क्या?”

“नहीं.”

“तो?”

“वी आर नॉट मैरिड. एकचुअली वी आर इन्वॉल्व्ड इन अ ‘लिव इन’ रिलेशनशिप....दरअसल हमने शादी नहीं की. सिर्फ़ साथ रहने का फैसला किया है.” प्रतिमा ज़्यादा समय तक इस सच को और छिपाकर नहीं रख सकती थी. जब-जब छिपाया मन पर बोझ बढ़ता जाता था. कहकर हल्का लगा, पर साथ ही आवाज़ की बुलंदी गायब थी - वह बुलंदी जो ब्याह की बात पर मां को उनके और बाबूजी के रिश्तों की गुलामी पर कहते वक्त मौजूद थी.

“वॉट आर यू टॉकिंग? क्या बात कर रही हो.” उन्होंने गैस बंद कर दी. प्रतिमा को लगा कि गर्भवती को गरम-गरम पूरनपोली खिलाने के उत्साह पर पानी फिर गया.

“तुमने शादी नहीं की?”

“नहीं की.”

“क्यों?”

“हमें लगता है कि शादी एक बंधन है. वह केवल गुलाम बनाती है और शादी के बाद प्यार खत्म हो जाता है. मैंने देखा है, अपने मम्मी-डैडी को दुश्मनों-सा लड़ते हुए.”

“पागल हो प्रतिमा, सारे रिश्ते रस्मों के मोहताज

हैं ?”

“स्वतंत्रता, अस्तित्व, वजूद, पसंद, सब शादी के साथ मिटने लगते हैं. हम अपना-अपना जीवन अपने अनुसार नहीं जी पाते हैं. मैंने देखा है, अपनी मां को बाबूजी की पूजा की थाली से लेकर अंडरवियर-बनियान तक बाथरूम में टांगने की गुलामी को!”

“मैं तो मॉडलिंग की दुनिया में हूँ, जहां शादीशुदा लड़की का कैरियर ही खत्म हो जाता है.”

“मॉडलिंग का कैरियर शादी से नहीं, उम्र के साथ यूं ही खत्म हो जाता है.”

“आर्थिक स्वतंत्रता के बाद हम एक-दूसरे पर निर्भर नहीं हैं तो क्यों बंधनों में बंधें?”

“प्रतिमा, जिसके साथ बंधन में बंधना नहीं चाहती हो उसका यह बंधन! कोख के अंदर तो बंधा है. जानती हो, मां का सबसे पवित्र रिश्ता बच्चों से ही होता है, पर पवित्रता की मोहर शादी की रस्मों से ही लगती है. जिसकी पत्नी नहीं कहलाना चाहती हो, उसी के बच्चे की मां कहलाने को तैयार हो और शादी कोई रस्म नहीं, एक संस्कार है, प्रतिमा. एक संस्कार संतान को जन्म देने के पहले का. उसके बगैर पत्नी नहीं, उपपत्नी ही कही जाओगी. उपपत्नी मतलब ‘रखैल’. बच्चे के जन्म से पहले कोर्ट में या मंदिर में जहां भी चाहो, इस संस्कार को पूरा कर लो. बच्चा तुम्हारे रिश्ते की इज़्जत करेगा, वरना बड़े होकर सबसे ज़्यादा कटघरे में उसे ही खड़ा किया जायेगा.”

पूरनपोली रखी रही थाली में. न उन्होंने सरकायी, न मैंने खिसकायी प्रतिमा अपने फ़्लैट में लौट आयी. पलंग पर पड़ी रही - खाली, निष्प्रयोजन, उदास.... तो क्या इस बंधन से भी मुक्त हो जाऊं? या इसके लिए उस बंधन को स्वीकार लूं.

मिसेस कुलकर्णी की बड़बड़ाहट महसूस करती रही प्रतिमा. उसे लग रहा था, वह मिसेस कुलकर्णी की नज़रों में उतर गयी है. वे उसे डांट रही हैं और अपने पति को बता रही हैं - ‘वॉट द हेल इस गोइंग ऑन दीस डेज?’

“यू वॉट अंडरस्टैंड, दिस इज वेस्टर्न कल्चर माय डियर, विच इज़ ऑल्सो रूनिंग इंडियंस नाऊ!”

ई-एन १/९, चार इमली,

भोपाल-४६२०१६

फ़ोन - ९४२४०१९३३४



आमने- सामने

‘साधारण लोगों के जीवन के सरोकारों से असाधारण कहानी बनती है!’

डॉ. स्वाति तिवारी

बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठ खोलना चाहता है, लेखक और पाठक के बीच की दीवार खत्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, ‘आमने-सामने’. अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुनी सिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड्गसे, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, (स्व.) सुमन सरीन, डॉ. फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक ‘अंजुम’, राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष, रामनाथ शिवेंद्र, अलका अग्रवाल सिगतिया, संजीव निगम, सूरज प्रकाश, रामदेव सिंह, मंगला रामचंद्रन, प्रकाश श्रीवास्तव, सलाम बिन रजाक, मदन मोहन ‘उपेंद्र’, भोला पंडित ‘प्रणयी’, महावीर रवांला, गोवर्धन यादव, डॉ. विद्याभूषण, नूर मुहम्मद ‘नूर’, डॉ. तारिक असलम ‘तस्नीम’, सुरेंद्र रघुवंशी, राजेंद्र वर्मा, डॉ. सेराज खान ‘बातिश’, डॉ. शिव ओम ‘अंबर’, कृष्ण सुकुमार, सुभाष नीरव, हस्तीमल ‘हस्ती’, कपिल कुमार, नरेंद्र कौर छाबड़ा, आचार्य ओम प्रकाश मिश्र ‘कंचन’, कुंवर प्रेमिल और डॉ. दिनेश पाठक ‘शशि’ से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है डॉ. स्वाति तिवारी की आत्मरचना.

हमारे घर का वातावरण हमेशा से साहित्यिक रहा है. पिताजी हिंदी के व्याख्याता रहे हैं. शुद्ध उच्चारण वाली हिंदी स्वतः संस्कारों में शामिल होती चली गयी. मेरे पिताजी कथा-कथन की शैली में हमें बचपन में साहित्यिक कहानियां सुनाते थे. बचपन उन्हीं साहित्यिक कहानियों के वातावरण में पला बढ़ा. रवींद्रनाथ टैगोर की काबुलीवाला, महादेवी वर्मा की घीसा, प्रेमचंद जी की अमर कहानियां, शेक्सपियर की लोकप्रिय कहानियां ऐसी तमाम साहित्यिक रचनाएं मैंने और हम सभी भाई-बहनों ने उस उम्र में सुनी थीं जब शायद साहित्य शब्द सुना और समझा भी नहीं था. पिताजी से सुनी कहानियों से ही शायद मन में कहानी की मिट्टी तैयार हुई होगी और यहीं से कहानी लिखने की नींव पड़ गयी.

बचपन की सुनी, पिताजी द्वारा दी गयी अमिट धरोहर संस्कार बन गयी जिसने जीवन मूल्यों को समझने की दृष्टि दी, जिसने हमें संवेदनशील बना दिया. मां ने एक सुव्यवस्थित धार्मिक शैली के साथ पारिवारिक, सामाजिक संस्कार दिये. इसी वातावरण ने हमें स्वस्थ मानसिक पालन पोषण के साथ उच्चतम शिक्षा भी दी जिसने सोचने-समझने की दृष्टि, अपनी बात कहने का निर्भीक आत्मविश्वास दिया. लड़की या लड़के के भेदभाव से परे संतान के रूप में पालन-पोषण व्यक्तित्व के

निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है - इन सभी तत्वों ने प्रखर-वक्ता के रूप में छात्र जीवन में ही पहचान दी. मेरी इसी विशेषता में लिखना भी एक अनिवार्य काम था. भाषण और वाद विवाद के साथ निबंध, रिपोर्ट लिखने में पारंगत हो गयी. मैं किसी भी विषय पर पूरी तैयारी के साथ बोलती रही हूं. बस शायद लेखन की शुरुआत इसी तरह से हुई.

मुझसे कई बार मेरी रचना प्रक्रिया के बारे में पूछा जाता है. रचना प्रक्रिया का कोई निर्धारित फॉर्मूला नहीं होता कि हम ऐसा करेंगे तो ऐसी रचना तैयार होगी. जब जैसे समय मिलता है कोई विषय कचोटता है लिख लेती हूं. गृहस्थ जीवन, कामकाजी होना और साथ में सामाजिक संस्थागत कार्यों की व्यस्तताएं हैं, वे मेरे लिए, हमारी परिवार जैसी पवित्र संस्था के लिए, प्रमुखता रखती हैं. इन सबके बीच जो समय बचता है वह मेरा अपना होता है. उसी में लिखती हूं. समय की हर क्षेत् में अपनी मांग होती है उसी में जब जैसे बनता है एक कोशिश लिखने की भी होती है. जाने-अनजाने मेरे लिखने का अच्छा या बुरा प्रभाव परिवार पर पड़ता हो पर कुछ समझौते लेखक के परिवार स्वतः कर लेते हैं.

अक्सर रात में लिखती हूं. पहले जब बच्चे अपनी पढ़ाई कर रहे होते थे और अब फ़ोन आने के इंतज़ार

में या नेट पर बात करने के बाद कुछ देर लेखन होता है। जब भी कोई विषय मिलता है। कोई विचार उठता है तब लिखना मजबूरी बन जाता है, क्योंकि तब नहीं लिख पाने की बेचैनी तंग करती है, तनाव होता है, अनपनापन बना रहता है। लिखने और प्रकाशित हो जाने के बाद सृजन की संतुष्टि होती है, जो नया उत्साह नयी स्फूर्ति देती है। लिखने से पहले पढ़ना बेहद ज़रूरी समझती हूँ क्योंकि लेखक होने से पहले अच्छा पाठक होना ज़रूरी है। अक्सर डाइनिंग टेबल पर ही लिखती हूँ क्योंकि वहाँ पर केंद्र में रहकर घर में नियंत्रण एवं दायित्वों को पूरा करने में सरलता होती है। अक्सर घर में ही लेखन करती हूँ, शायद मेरी लेखन से पहले वाली बौद्धिक क्षमता को अपने परिवार का ही वातावरण रास आता है।

मैंने बहुत छोटे से, जब स्कूल में पढ़ती थी लिखना शुरू कर दिया था। शायद नवीं कक्षा में थी तभी से लेख, कविताएं प्रकाशित होने लगे थे। पहली कविता 'अश्रु की बूंद' स्कूल पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। पहली लंबी कहानी 'फ्री प्रेस' के हिंदी संस्करण में धारावाहिक किशतों में प्रकाशित हुई थी - 'क्या मैंने गुनाह किया।' बाद में इसी शीर्षक में पहला संग्रह वाणी प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुआ।

फिर एक संग्रह 'अकेले होते लोग' भी वाणी से ही आया। पिछले साल 'बैंगनी फूलों वाला पेड़' कहानी संग्रह सामयिक प्रकाशन दिल्ली से आया। दिशा प्रकाशन, नयी दिल्ली से भी दो संग्रह आये हैं। संजीव प्रकाशन, नितिका प्रकाशन से भी आये हैं - 'अकेले होते लोग' का अंग्रेज़ी अनुवाद वाणी प्रकाशन दिल्ली से आने वाला है। एक उपन्यास के बारे में सामयिक प्रकाशन से चर्चा हो चुकी है।

कहानी और उपन्यास दोनों विधाओं में मैं सृजनशील रही हूँ।

यूँ तो दोनों ही अच्छी विधाएं हैं, लेकिन उपन्यास लिखना एक लंबी प्रक्रिया है जो धैर्य के साथ समय भी लेती है। पर कहानी में पीड़ा की गहरे से गहरी अनुभूति होती है जैसे कोई खामोशी, कोई आक्रोश, विद्रोह, कोई चीख, कोई अंतराल जो अंतरमन को हिला डालता है, जबकि उपन्यास में उसी फलक का विस्तार किया

जाता है। मेरा मानना है कि एक साधारण उपन्यास से कहीं ज़्यादा कठिन है एक अच्छी कहानी लिखना।

मेरी कहानी के पात्र काल्पनिक कभी नहीं रहे। मेरी लेखनी का दायरा अपने आसपास के लोगों से ही बना है। वे इसी सामाजिक परिवेश से उपजे कथा बीजों से बने हैं। मेरा मानना है कि साधारण लोगों के जीवन के सरोकार से ही असाधारण कहानी बनती है। मेरे विचार से एक कहानीकार की लेखनी की सार्थकता तभी होती है जब साधारण लगने वालों में भी वह असाधारण को ढूँढ़ निकाले। मेरे लेखन के पात्र स्वयं मुझे लिखने के लिए बाध्य करते हैं। इनमें ज़्यादातर पात्र स्त्रियां ही हैं। विडंबना ही है कि समाज और परिवार की धुरी होते हुए भी वही शोषण की शिकार होती हैं। ऐसे शोषित पात्रों की स्थिति मुझे, मेरे संवेदनातंत्र को विचलित कर देती है और प्रवाह के विरुद्ध क्लम काम करने लगती है।

मेरा सोचना है कि साहित्य में जीवन का सत्य होना चाहिए क्योंकि वर्णित सुख-दुःख पाठक आत्मसात कर लेता है। इसलिए लेखन सहज-सरल और प्रवाहमान हो, ज़्यादा क्लिष्ट अलंकारी भाषा नहीं बल्कि सुंदर भावों की प्रस्तुति देना चाहिए जो लोगों को तमाम समस्याओं से जूझने का हौसला दे सके। दूसरी बात यह है कि व्यक्ति आज तमाम उलझनों से परेशान है। इसलिए साहित्य सकारात्मक आशावादी हो निराशावादी नहीं। आज लेखक को अपने अस्तित्व को बनाये रखने की चिंता बनी रहती है। इससे लेखन प्रभावित होता है। कहानी का आधुनिकीकरण तो होना चाहिए पर अमानवीयकरण नहीं।

आगे चल कर मैंने समीक्षाएं भी लिखीं। कुछ समीक्षाएं दिल्ली दूरदर्शन पर 'सुबह-सबरे' कार्यक्रम में भी आयीं। नई दुनिया, दैनिक भास्कर, कथाबिंब, कादंबिनी, वीणा, कथाक्रम, हिंदुस्तान, जनसत्ता, साक्षात्कार आदि कई पत्र-पत्रिकाओं में आयीं।

मुझे एक घटना याद आ रही है। मेरी रचनाएं सभी पत्रिकाओं में आना शुरू ही हुई थीं। मैं एक बार इंदौर के चौइथराम अस्पताल में ऑपरेशन के लिए एडमिट होने गयी। वहां के जनसंपर्क अधिकारी के केबिन में बैठी थी, वहीं से भर्ती होने की औपचारिकताएं

पूरी करवा रही थी। पर्ची एवं एडमिशन पेपर तैयार कर रही कंप्यूटर ऑपरेटर बगैर पेपर तैयार किये मेरे पास आ गयी। कहने लगी, 'क्या आप वही स्वाति तिवारी हैं जो कहानियां लिखती हैं?' मेरे हां कहने पर वह इतनी खुश हो गयी जैसे कोई बरसों से बिछड़ा मिल गया हो... कहने लगी, 'आपका नाम टाइप करते हुए मेरा मन पहले आप से मिलने के लिए मचलने लगा.' उसने पहले मुझे वार्ड में पहुंचाया, 'आप आराम करिए मैं पेपर तैयार करके लाती हूँ.' ऐसा ही कुछ एक बार फिर एक लेबोरेटरी में भी हुआ।

एक बार भोपाल में एक शादी में महिलाओं का एक ग्रुप मेरी कहानी "जिज्जी से मिल आना" के किसी प्रसंग पर चर्चा कर रहा था। पास अनजान बन कर खड़े होकर यह सुनना अच्छा लग रहा था। ऐसे वक्त लगता है हमारा कहा, बोला तो एक निर्धारित दायरे के लोग सुन रहे होते हैं पर हमारा लिखा पता नहीं कितने लोग कहां-कहां पढ़ रहे होते हैं। हमारी बात वैयक्तिक विचार से सार्वजनिक चर्चा में जाकर लोगों को सोचने पर बाध्य करती है। यह सोचकर मन आल्हाद से भर उठता है।

यूं तो अपना लिखा सभी कुछ महत्वपूर्ण होता है क्योंकि उसका उद्देश्य अलग-अलग होता है। मेरे अब तक के लेखन में ऐसा एक लेख 'दैनिक भास्कर' के संपादकीय पृष्ठ पर प्रकाशित हुआ था। "क्या हो गया है मेरे धार को?" दरअसल यह लेखकीय सोच या बौद्धिकता से तैयार लेख तो था ही नहीं। यह पीड़ा थी एक स्त्री की दंगों से तहस-नहस होते अपने मायके के शहर की। उन दिनों भोजशाला मुद्दे को लेकर 'धार' दंगों की चपेट में था। मेरे लेख ने उसी शहर के सांप्रदायिक सौहार्द्र, प्रेम, भाई-चारे को याद किया था जिसमें जिक्र था बंदीछोड़ बाबा की दरगाह का, जिसमें जिक्र था हिंदू-मुस्लिम हर विवाह में बजने वाले बशीर के बैडबाजे का। एक सहज सा लेख था। अखबार में प्रकाशित लेख अभी तो मैंने देखा ही था कि मुझे तत्कालीन मुख्यमंत्री के निवास से फ़ोन आया - सी. एम. साहब आपसे बात करेंगे, मैं आश्चर्य चकित थी। मेरे लिए फ़ोन? घर पर उस वक्त कोई था भी नहीं। शहर में तनाव था। धार में हफ्ते भर से कर्फ्यू लगा हुआ था। एक भय मेरे वजूद

पर फैलने लगा। कुछ तो गड़बड़ हो गयी है यह लिख कर... पर जब तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री दिग्विजय सिंह ने कहा कि मैंने आपका लेख पढ़ा। बहुत बढ़िया लिखा है। मैं बधाई देता हूँ, इस वक्त ऐसे ही लेखों की ज़रूरत है। फिर उन्होंने इस मुद्दे और मेरे लेखन के बारे में लंबी चर्चा की। उस लेख के लिए बाद में मुख्यमंत्री जी का लिखित सराहना पत्र भी आया। सुकून तब और ज़्यादा मिला जब मेरे शहर 'धार' से हिंदू-मुस्लिम दोनों संप्रदाय के अनेक लोगों के लगातार फ़ोन आते रहे। मुझे बताया गया कि शहर में वो लेख दोनों संप्रदाय के लोगों ने घर-घर बांटा। उस एक लेख के बाद मुझे लगा हमारी सहज सी दिल से निकली बात भी लोगों के दिलों में इस तरह जाती है। यह सब कुछ मेरे लिए पुरस्कारों, सम्मानों से बढ़ कर था। लगा लेखन आपको आपकी बात को, आपके विचारों को स्थापित करता है।

बाद में मैं कई सामाजिक संस्थाओं से जुड़ी, हर व्यक्ति अपने समाज के लिए कुछ बेहतर करना चाहता है। किसी संस्था से जुड़ कर एक टीम में शामिल होते हैं। टीमवर्क के परिणाम भी बड़े होते हैं। क्योंकि विस्तार से काम करने की सुविधा होती है। मैंने इंदौर में महिलाओं की सृजनात्मक, रचनात्मक बौद्धिक ऊर्जा को 'लेखिका संघ' के माध्यम से एकत्र कर कई महत्वपूर्ण काम किये। 'थेलसेमिया चाइल्ड वेलफेयर ग्रुप' की बोर्ड ऑफ डायरेक्टर में रही, तो बीमार बच्चों के लिए भी कुछ काम किये। फूल ना सही फूल की पंखुरी ही सही, यह सोच कर राज्य संसाधन केंद्र की गवर्निंग बॉडी की सदस्य मनोनीत हुईं। प्रौढ़ शिक्षा के लिए काम करने वाली एक उत्कृष्ट संस्था है यह। 'दिल्ली लेखिका संघ' की सचिव, दिल्ली महिला पत्रकारों की संस्था आई. डब्ल्यू. पी. सी. की सदस्य रही। संस्थाएं हमें काम करने का आधार देती हैं। दिशा देती हैं।

मैंने इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में भी काफ़ी काम किया। उन दिनों हमारे प्रदेश में चैनल्स का नया दौर था। तब मैंने एक चैनल के लिए सोलह किशतों के लिए 'एक हस्ती' शृंखला में साक्षात्कार लिये। परिवार परामर्श केंद्रों पर केंद्रित आंधे घंटे की एक फ़िल्म 'घरौंदा ना टूटे' बनायी। इसमें संपादन, पटकथा, स्वर सभी कुछ

लघुकथा

देवी कृपा

✍ नरेंद्र कौर छाबड़ा

शहर की बाहरी सीमा पर दुर्गा मंदिर का निर्माण हुआ था चूंकि आसपास आबादी कम थी अतः वहां कोई बड़े धार्मिक आयोजन नहीं हो पाते थे. इक्का-दुक्का लोग अपनी सुविधा के अनुसार मंदिर आते और दर्शन करके चले जाते. चढ़ावा कम होने के कारण वहां के पुजारी जी की आर्थिक स्थिति कमज़ोर थी. जैसा कि हमारे देश का चलन है धार्मिक स्थानों के धर्मगुरु, पुजारी, पादरी आदि अन्य कोई व्यवसाय नहीं करते सिवाय धार्मिक स्थल की सेवा के, सो पुजारी जी भी सारा दिन खाली बैठे अपने भाग्य को कोसते रहते.

त्यौहारों के मौसम में अपेक्षाकृत अधिक चढ़ावा आता था सो पुजारी जी त्यौहारों की बाट जोहते रहते. इस वर्ष रक्षाबंधन, गणेश चतुर्थी, श्राद्ध गुजरने के बाद नवरात्रि का त्यौहार आया तो अचानक पुजारी जी के दिमाग की बत्ती जल उठी, अगला त्यौहार था करवा चौथ, महिलाओं खासकर सुहागनों का बहुत बड़ा पर्व. पुजारी जी ने आनन-फानन में योजना बना डाली. करवा चौथ के एक दिन पहले सारे शहर में तेज़ी से यह खबर फैल गयी कि इस वर्ष करवा चौथ का दिन पतियों के लिए भारी है कुछ भी अशुभ हो सकता है. सुहागनें दुर्गा मंदिर में एक कटोरी चावल व एक कटोरी शुद्ध घी नयी खरीदी कटोरी सहित चढ़ावे में देकर इस संकट से मुक्ति पा सकती हैं.

अगले दिन दुर्गा मंदिर के सामने महिलाओं की लंबी कतार लगी थी जिसमें अशिक्षित, शिक्षित व उच्च शिक्षित सभी बड़ी श्रद्धा से हाथों में कटोरियां लिये अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रही थीं. मंदिर के अंदर पुजारी जी की पत्नी एक कनस्तर में देसी घी व दूसरे में चावल डालते हुए हिसाब लगा रही थी. सालभर के लिए चावल, घी का इंतज़ाम तो हो ही गया है. फिर कटोरियों को वापस बाज़ार में पहुंचाकर अच्छी नकद राशि भी प्राप्ति हो जायेगी. दुर्गा की मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर वह मुस्कुरायी - 'मां, जय हो. यह तरीका भी तो आपकी शक्ति से ही मिल पाया है - ऐसी ही कृपा बनाये रखना.'

✍ १८४, सिंधी कालोनी, जालना रोड,
औरंगाबाद-४३१००५ (महाराष्ट्र)

स्वयं किया था. एक और चैनल के लिए कलागुरु विष्णु चिंचालकर पर एक फ़िल्म बनायी. मन्नू भंडारी जैसी वरिष्ठ कथाकार का इंटरव्यू लिया. आकाशवाणी इंदौर के लिए अनगिनत कार्यक्रम लिखे. प्रिंट मीडिया में कई प्रमुख अखबारों में फ़ीचर संपादक का काम किया. पत्रिकाओं, क़िताबों का संपादन किया. देश के अग्रणी अखबारों के लिए स्थायी स्तंभ भी लिखे.

इन सारी व्यस्तताओं के बीच मैंने अपनी पढ़ाई जारी रखी. मैं विज्ञान की छात्रा रही हूं. मैंने एम. एस. सी. प्राणिकी में किया और टैक्सेशन में एल. एल. बी. किया फिर कुछ अंतराल के बाद एम. फ़िल., पी. एचडी किया और डी. लिट. करने की इच्छा है. विषय खोज रही हूं. आम विषयों से हट कर कोई नया विषय हो

तभी काम करने में मजा आता है. विज्ञान की विद्यार्थी होने का फ़ायदा मुझे मिलता है कोई भी बात गप्पबाजी नहीं होती. वैज्ञानिक दृष्टिकोण घटनाओं का विश्लेषण करने में मदद करता है.

सारी सक्रियता और गतिविधियों के बीच मुझे अपने परिवार के सभी सदस्यों से पूरा सहयोग मिलता है. मेरा परिवार ही मेरी शक्ति है. अपने परिवार और समाज को नकार कर किया हुआ कोई भी काम सार्थक हो ही नहीं सकता. मेरी प्राथमिकता में परिवार हमेशा सबसे आगे है उसके बाद दूसरे काम.

✍ ई-एन १/९, चार इमली,
भोपाल-४६२०१६
फ़ो - ९४२४०१९३३४

कथाबिंब/ जनवरी-मार्च २०११ ॥३४॥



‘मैं अपनी जगह, अपने वजूद के लिए लड़ती हूँ!’

— चित्रा मुद्गल

(चर्चित लेखिका चित्रा मुद्गल से मधु अरोड़ा की ‘कथाबिंब’ के लिए बातचीत.)

● आपके लिए स्त्री-विमर्श क्या है?

समाज में स्त्री की जो दायम दर्जे की स्थिति रही है, समाज में जो उसका तिरस्कार रहा है, समाज में उसकी जो उपेक्षा रही है, समाज में जो उसे एक मानवीय दर्जा मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला है. वह ‘देवी’ और ‘भोग्या’ के बीच एक पेंडुलम की स्थिति सदियों से जीती रही है. मेरी नज़र में स्त्री-विमर्श का अर्थ है समाज में उस आधी दुनिया के विषय में सोचा जाना जो अपनी साझीदार उपस्थिति से उसे एक संतुलित और मुकम्मल दुनिया का स्वरूप प्रदान करती है लेकिन दुर्भाग्य से उसे अपना सर्वस्व स्वाहा करने के बावजूद वह संतुलित, मुकम्मल दुनिया नसीब नहीं होती. पितृसत्ता द्वारा निर्मित उन अमानवीय स्थितियों के बारे में सोचा जाना, विचार किया जाना और मानवीयता के नाते इस बात का समाज के द्वारा एहसास किया जाना कि अपनी वर्चस्वता कायम करने हेतु आधी दुनिया के साथ मानसिक, दैहिक, व्यावहारिक सभी स्तरों पर व्यभिचार किया है.

● पुरुष समाज स्त्री के साथ आखिर ऐसा क्यों करता है?

दरअसल, पुरुष यह भूल गया है कि स्त्री के सीने में भी एक अदद दिल है, उसके धड़ के ऊपर के हिस्से में एक अदद दिमाग है जो किसी भी मायने में पुरुष के दिमाग से कम ऊर्जावान नहीं है. ये विसंगतियां, ये मुद्दे हैं जिनके बारे में स्त्री विमर्श के माध्यम से गहराई से समाज का विश्लेषण किया जाना चाहिए कि हम उन्नत भारतीय सभ्यता की बात करते हैं जहां अर्धनारीश्वर के जीवन दर्शन की महत्ता रही है. स्त्री दुर्गा, शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है— इसी शक्ति के पत्नी बनने के बाद

बात-बात में चुप रहने के लिए बाध्य किया जाता है, आखिर क्यों? यौन संबंधों में भी उसे ग़ैर बराबरी का दर्जा दिया जाता है. तो मधु, स्त्री के संदर्भ में स्त्री-विमर्श के मायने हैं प्रतिरोध का वह स्वर जो उसके सामाजिक उत्पीड़न को लेकर बहुत पहले उठाया जाना चाहिए था.

● आपको ऐसा लगता है कि गत कुछ वर्षों से स्त्री-विमर्श का मुद्दा ज़्यादा चर्चा में है?

पिछले डेढ़ दशक पहले से मुख्य रूप से उसे



उठाया जाने लगा है और मधु, प्रतिरोध के इस स्वर को साहित्य ने भी अपना मुख्य मुद्दा बनाया है— दलित विमर्श के ही समकक्ष, क्योंकि इस विषय पर अनिवार्यतः यह महसूस किया गया कि स्त्री-विमर्श को साहित्य में भी आंदोलनात्मक धरातल पर भी अपने मोर्चे खोलने होंगे और वे मोर्चे खोले गये. सत्तर के दशक के उत्तरार्ध में हम यह पाते हैं कि वह मोर्चा अपनी सन्नद्ध

मुद्रा में कई कृतियों में मुखर होता है. ज़ाहिर है मधु, पितृसत्ता को स्वयं को सत्ताधीशी के मद से उबारना होगा. स्त्री को स्पेस देना ही होगा. हालांकि मुझे ऐसी परस्परता का प्रतिशत २१वीं सदी में भी बहुत उत्साहवर्धक महसूस नहीं हो रहा है. फिर भी परिवर्तन आ रहा है और स्वयं स्वावलंबित और शिक्षित स्त्री भी इस दिशा में सचेष्ट है कि वह अपने पुरुष को एक संतुलित और विवेकशील परस्परता की तरफ़ मोड़ सके.

● जीवन और समाज में स्त्री की भूमिका अहम है. रचनात्मक भूमिका के बावजूद स्त्री उपेक्षित क्यों है?

स्त्री की रचनात्मकता की क़द्र तो तब होगी जब पुरुष अपने अहम् को त्यागेगा. वह अपने पितृसत्तात्मकता

अहम् यानी कि 'मैं चलानेवाला हूँ. यह घर ही नहीं, यह समाज ही नहीं, यह देश ही नहीं, बल्कि यह राष्ट्र भी.' जहां इस तरह का भाव होगा कि हर चीज़ चलाने का आधार पुरुष के पास है तो वह स्त्री की रचनात्मकता को कहां जगह देगा? मधु, यही तुम साहित्य में देखोगी. हमारे आलोचकों ने स्त्री-लेखन को ज़नाना लेखन कहकर बहुत बार मज़ाक उड़ाया है. मैं तो कहती हूँ कि उनकी कूवत ही नहीं है स्त्री लेखन को पहचानने की. आधी दुनिया अपनी सर्जना के माध्यम से लिख रही है, अपने अंतर्मन की तलछटों को जो अभिव्यक्त कर रही है, वह उस पूरे समाज का ही तो आधा हिस्सा है. वह पहिया है, जो अपनी कील से उखड़ चुकने के बाद गाड़ी की गति के साथ घिसट रहा है और उस 'घिसटन' का कोई इलाज करने के बजाय उसे निकाल कर हाशिये पर फेंक कर नया पहिया जड़ लेने के अहंकार से भरा है.

● कुछ महीनों पहले अदालत ने 'लिव-इन-रिलेशनशिप' पर फैसला दिया. इस पर आप क्या सोचती हैं?

मुझे लगता है कि इस दिशा में जिस प्रकार की क़ानूनी पहल हुई है उसमें एक प्रकार की उतावलीभरी जल्दबाजी नज़र आती है. बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन के साथ शायद यह महसूस किया जाने लगा था कि पैकेज डील की अविश्वसनीय किस्म की लंबी-चौड़ी तनखाहों के चलते पिछड़े प्रदेशों के बेटों की कैरियर ओरियन्टेड शिक्षा की ओर ध्यान देनेवाले माता-पिता उन्हें सायबर शहरों में भेजने से परहेज़ नहीं करेंगे और होगा यह कि साथ काम करनेवाले युवक-युवतियों के बीच आपसी संबंध खुली जीवन शैली के चलते इस सीमा तक प्रगाढ़ हो सकते हैं कि वे 'लिव-इन-रिलेशनशिप' में प्रवेश कर साथ-साथ रहने का निश्चय कर सकते हैं, और ऐसा हुआ भी और हो रहा है और इसी के चलते लड़कियों के मानसिक और दैहिक शोषण के विषय में निर्णय लिया गया और कोर्ट का फैसला आया. अब रही बात विदेशों में लिव-इन-रिलेशनशिप की, तो वहां तो इसकी कोई सीमा ही नहीं है. यह मल्टीनेशनल्स का फंडा है. लिव-इन-रिलेशनशिप का मतलब है कि स्त्री-पुरुष गंधर्व विवाह करके अपने आपकी मरज़ी से रहें.

● आपको लगता है कि यह विदेशों का षडयंत्र है?

हां, क्योंकि उसके पीछे एक बाज़ारीय सोच काम कर रही है. हो यह रहा है कि पितृसत्ता की भोगवादी प्रवृत्ति को अनजाने ही एक उछाल मिला है. बिन ब्याहे युवक-युवतियों की बात तो और है, घर से दूर रहनेवाले पुरुष या अपने ही शहर में रहनेवाले शादीशुदा पुरुष भी इस फैसले से फ़ायदा उठाने से नहीं चूक रहे हैं. इसका एक बहुत ही ज्वलंत उदाहरण बहुत बरस पहले गुजरात में मैत्री करार के रूप में देख चुके हैं. मैत्री करार के लागू होते ही हज़ारों महिलाओं ने अपने पत्नीत्व के हितों की रक्षा के लिए कोर्ट में दावा दायर कर दिया कि उनका पति शहर में नौकरी करते हुए किसी अन्य स्त्री के साथ बरसों से रह रहा है और मैत्री करार के अंतर्गत क़ानून साथ रहनेवाली स्त्री के बच्चे को पति की संपत्ति में हक़दार मानता है और उन्हें क़ानूनी मान्यता प्रदान करता है. शादीशुदा स्त्री के पत्नीत्व के अधिकारों और बच्चों के हक़ पर तुषारापात करते हुए उन पत्नियों का मानना था कि पुरुष के दोनों हाथों में लड्डू हैं. हारकर गुजरात सरकार को मैत्री करार को रद्द करना पड़ा. कमोबेश यही स्थितियां 'लिव-इन-रिलेशनशिप' को क़ानूनी संरक्षण देने से उत्पन्न हो सकती है. दरअसल 'लिव-इन-रिलेशनशिप' रद्द किये गये मैत्री करार की तरह विवाह संस्था की सुदृढ़ता को चुनौती दे रहा है. बदलती हुई परिस्थितियों के साथ यदि ज़रूरत का वास्ता देकर हम यूं ही बदलते रहेंगे तो वह दिन दूर नहीं जब हमारे समाज में सांस्कृतिक मूल्य, नैतिकता और मान्यताएं ढहती हुई नज़र आयेंगी जिनकी वजह से वैश्विक संस्कृतियों में हमारी विशिष्ट पहचान है. नैतिकता का विवेक मनुष्य के भीतर मानवीय संवेदनाओं के क्षरण को रोकता है. इसलिए मेरा कहना है कि 'लिव-इन-रिलेशनशिप' मल्टीनेशनल्स का फंडा है. यह मल्टीनेशनल्स बगीचों का, भूमंडलीकरण का, बाज़ारवाद का दबाव है और यह उसकी वजह है.

● आज का युवा-वर्ग साहित्य से दूर होता जा रहा है, इसके लिए आप किसे दोषी मानती हैं ?

इसके लिए हमारी जो शिक्षा नीतियां हैं, मैं उनको दोष देती हूँ. साथ ही पारिवारिक वातावरण को भी दोष देती हूँ. पहले बच्चों को साहित्यिक वातावरण मिलता था जहां वे माता-पिता को पढ़ते देखते थे, कि

माता-पिता काम करते हुए भी साहित्य पढ़ते थे, पुस्तकें खरीदते भी थे। लेकिन आज माता-पिता ने खुद भी वह छोड़ दिया है। उनकी पूरी तवज्जो जो है उसने बच्चों को कैरियर ओरियन्टेड बना दिया है। पहले मां-बाप सोचते थे कि बच्चों के लिए खेलने को भी समय होना चाहिए। हमारे समय में स्कूलों में लायब्रेरी से पुस्तकें इशू करवाना जरूरी था। प्रार्थना के बाद प्रिंसिपल बताते थे कि पाठ्यक्रम में जो लेखक हैं, उन पर पुस्तकें लायब्रेरी में उपलब्ध हैं। आज मुझे नहीं लगता कि हिंदी के अध्यापक स्कूल में पढ़नेवाले बच्चों को इस तरह गाइड करते होंगे या बच्चों को निर्देश देते होंगे।

● **आपका कहना है कि युवा वर्ग की साहित्य से दूरी की जिम्मेदारी अध्यापकों की वजह से है?**

हां, किसी हद तक, तुम्हीं बताओ, अब जब हिंदी के अध्यापक ही नहीं पढ़ते तो वे बच्चों को कैसे बतायेंगे कि किस उम्र में क्या पढ़ना चाहिए। आज की नयी पीढ़ी को चेतन भगत में रुचि है। उसके लिए वही क्लासिक है। हम यह आरोप नहीं लगा सकते कि नयी पीढ़ी में रुचि नहीं है। उनमें रुचि जगायी ही नहीं जाती। दूसरे, पाठ्यक्रम बनाते समय बच्चों का मनोविज्ञान नहीं पकड़ पाते। वे पाठ्यक्रम में ऐसी-ऐसी कहानियां रख देंगे जिनमें बच्चों को कोई दिलचस्पी ही नहीं है। इसने साहित्य का बहुत ही नुकसान किया है। हमने अपने समय में कालिदास, शाकुंतलम ये सारी चीजें पढ़ ली थीं। साहित्य का यह संस्कार जानना बहुत जरूरी है। भारतीय भाषाओं में जो वाङ्मय है, उसकी जो सशक्तता है, बच्चों को उस सशक्तता के बारे में बताइए।

● **आज की कहानी की बात करें तो क्या आपको लगता है कि आजकल की कहानियों में कथात्मकता खत्म हो रही है?**

नहीं, आजकल की कहानियों में तो नहीं। लेकिन पूरा समकालीन कथा परिदृश्य जो युवा पीढ़ी का है, उसमें वह कथा पर महत्व देने की बजाये शिल्प को ज्यादा महत्व दे रहा है। उन्हें लगता है कि शिल्प उनकी कथा की कमजोरी को अपने प्रभाव में छिपा लेगा। पर पाठक को कथा पढ़ने के बाद उसमें कहानी ही नहीं मिलती। जो कहानी मर्म को नहीं छूती है, तो वह किसी भी तरह पाठक के मन में परिवर्तन नहीं ला सकती। कहानी जब मर्म को छूती है, उसे लेकर पाठक

उद्बिग्न होता है, कहानी पाठक के साथ चलती है। रात को सोते समय, सुबह उठते समय, घर के काम को निपटाते समय। तब समझो कि उस कहानी ने पाठक को उद्वेलित किया है। अधिकांश लेखक सोचते हैं कि शिल्प के माध्यम से पाठक को चमत्कृत कर दें और पाठक को सोचने को मौका न दें और पाठक पर बौद्धिक विलास थोप दें। कहानी क्या है? कुछ भी तो नहीं। मधु, शैलिक कौशल के प्रति अतिरिक्त रुझान के चलते युवा पीढ़ी के कई महत्वपूर्ण रचनाकारों की कथा रचनाओं में सर्वथा नवीन दृष्टि से लैस कथा संकेतों के बावजूद वह अपने मर्म को छूती नहीं है। लेकिन अल्पना मिश्र, वंदना राग, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पंकज सुबीर, प्रियदर्शन, मनोज पांडे, राकेश मिश्र आदि कथा की अंतर्वस्तु के कलात्मक रचाव में विश्वास रखते नजर आते हैं और उस रचाव की प्रभावोत्पादकता से कथा मर्म वंचित नजर नहीं आता। भाषा की असंबद्ध, जटिल, प्रांजल निर्मितियां निश्चय ही पाठक को एक सीमा के बाद ऊबन से भर देती हैं।

● **आज के लेखकों में अपने लेखन को लेकर हड़बड़ी है, जल्दी छपने की छटपटाहट है, रातों-रात शोहरत पाने की अदम्य इच्छा है, इस विषय में आप क्या सोचती हैं ?**

ये विज्ञापन जगत के लेखक हैं। उस युग में जी रहे हैं। उन्हें मालूम है कि प्रचार-प्रसार उन्हें बहुत जल्दी प्रतिष्ठित कर सकता है। हालांकि वे यह नहीं जानते कि प्रचार के बूते प्रतिष्ठित तो हो जायेंगे लेकिन रचना जब मील का पत्थर नहीं है तो वह अपने पाठक नहीं ढूँढ़ पायेगी। आप आपस में 'मेरी पीठ तू खुजला, तेरी पीठ मैं खुजलाऊं' करेंगे। यह एक असहिष्णुता है। यह लेखकों का जो युवा वर्ग है वह तात्कालिकता में विश्वास रखता है, पर यह सच है कि रचना अपने पाठक ढूँढ़ती है।

● **दिल्ली की साहित्यिक राजनीति से आपका व्यक्तित्व कभी प्रभावित हुआ है?**

नहीं मेरा व्यक्तित्व इसलिए प्रभावित नहीं होता क्योंकि मैं इस राजनीति से दूर रहती हूँ। मुझे जहां बुलाया जाता है, वहां उस कार्यक्रम में जाती हूँ। मैं चुनती हूँ कि मुझे किस कार्यक्रम में जाना चाहिए। मैं सोचती हूँ कि अमुक कार्यक्रम में जाकर मुझे क्या

हासिल होगा? अगर मैं वृद्धाश्रम न जाऊं तो मेरे एक दिन वहां न जाने से क्या फर्क पड़ेगा और मैं यदि इस संगोष्ठी में जाऊं तो वही लोग और वही बातें. क्या करना है असगर वजाहत को सुनकर, जो कहते हैं कि हिंदी के लिए रोमन लिपि ठीक है.

● **अक्सर सुना जाता है कि कई कार्यक्रमों में आप शहर में होते हुए भी नहीं जातीं, कोई खास वजह?**

बिल्कुल वजह होती है. मैं चुनती हूँ कि मुझे कहां जाना है और कहां नहीं. मैं मना कर सकती हूँ और मना कर देती हूँ. आपको पता है महात्मा गांधी विश्व-विद्यालय में लाल झंडा कैसे लग गया? यह शिक्षा का इन्स्टीट्यूशन है और कोई शिक्षाविद् किसी छात्र से उसकी जाति नहीं पूछता. गुरु सबसे बड़ा होता है. तो साहित्य जगत में यह सब क्रिएट हो रहा है. ये लोग तो रोज शराब की पार्टी में ये विचार करते हैं. हम तो काम करते हैं, सबके साथ काम करते हैं और कार्यकर्ता के रूप में काम करते हैं. हेड तो अब जाकर बनने लगे हैं. तो यह सब है मधु. मेरा इसलिए साहित्य जगत से नाता कम रहता है. मैं सारी गोष्ठियों में नहीं जाती. लेकिन जिसमें जाना है, तो उसमें जाना है और इतना दमखम भी रखती हूँ कि जो चीज़ ग़लत लगती है, हांट करती है तो उसके प्रति विरोध भी ज़ाहिर करती हूँ. साहित्य जितना प्रपंच और पंचायत निर्मित करता है, इतना तो राजनीति भी नहीं करती. पहले ऐसे साहित्यकार थे कि उनका एक्टिविज़्म उनके अपने व्यवहार में होता था, जैसे शिक्षाविद् का एक्टिविज़्म उसके व्यवहार में होता है. मैं अपनी जगह, अपने वजूद के लिए लड़ती हूँ.

● **आप जब लेखन करती हैं तो सृजन के समय और सृजन के बाद आपकी मनःस्थिति क्या होती है?**

जिस चीज़ को लिखने के लिए मेरी उद्विग्नता उसको लिखने से पहले होती है और अगर अपने मनमाफ़िक लिख लिया तब तो ठीक है. पर मैं जब लिखना शुरू करती हूँ और लगता है कि वह मेरे हाथ नहीं आ रहा है जो सोचा है तो मैं उसे लिखने का इरादा छोड़ दूंगी. लेकिन जिस वक़्त जो सोचा है, उसे अगर कागज़ पर उतार लिया है तो मुझे बहुत संतुष्टि होती है कि अब मैंने खाका तो उतार लिया है. मैं एक बार में ही नहीं लिख सकती. एक कहानी को कम से कम तीन बार

देखना पड़ता है. इसलिए पैंतालिस साल के लेखन में कुल जमा सत्तर कहानियां लिखी होंगी. मधु, दरअसल, जो जीवन-मूल्य, जो संघर्ष थे और अब जो नयी-नयी चीज़ें आयीं तो नयी-नयी अड़चनें आयीं. पहले की कुछ अड़चनें खत्म हो रही हैं. तो जो यह संक्रमण काल चल रहा है, जो बाज़ारवाद और वैश्विकतावाद से आया है तो इससे जूझने के लिए लेखकों को और सन्नद्ध होना चाहिए. लेकिन ये लोग प्रपंच करते घूम रहे हैं कि यह मेरा ख़ेमा, तेरा ख़ेमा वो, तेरा ख़ेमा वो, तेरा ख़ेमा वो. ये विषमताएं लेखक क्या दूर करेगा जब वह खुद ही ऐसा करता है.

● **आप साहित्य, दूरदर्शन आदि में बड़े प्रतिष्ठित पदों पर आसीन रही हैं, इनसे जुड़े खट्टे-मीठे अनुभव अपने पाठकों से शेयर करना चाहेंगी?**

मेरे कड़वे-मीठे अनुभव मेरे संघर्ष का हिस्सा बनते हैं. मुझे लगता है कि जब कभी ये कड़वे-मीठे अनुभव लिखूंगी तो वे मेरे पाठकों का हिस्सा बन सकते हैं. पाठक तो मेरे लिए वह अदालत है जिसमें मेरे अनुभवों का जो पिटारा है वह रचना-सर्जना के माध्यम से पहुंचता रहता है. मैं निश्चित रूप से अपने अनुभव लिखूंगी. मैं कभी हार नहीं मानती हूँ. मैं अपनी बात रख देती हूँ, आप मुझे अपनी बात समझा दीजिए.

● **आज प्रायोजित पुरस्कारों, सम्मानों और विदेश यात्राओं की भरमार है, क्या इससे साहित्य लेखन के स्तर में इज़ाफ़ा हुआ है या फिर स्तर में गिरावट आयी है?**

मेरा मानना है कि यदि पुरस्कारों, सम्मानों में इज़ाफ़ा हुआ है तो यह तो अच्छा है. इनसे अनुभव को विस्तार मिलता है. लेकिन लेखक दिल्ली से उड़कर लंदन पहुंचे और वहां शाम को शराब की बोतलें खोलकर बैठ गये और उस पर बहस कर रहे हैं तो क्या इज़ाफ़ा होगा, तुम ही बताओ. मेरा यह मुद्दा है कि आप वहां को देखिए, अंग्रेज़ों को देखिए, उनके गांवों को जाकर देखिए कि वे कैसे खेती करते हैं, गांवों में कैसे रहते हैं? लंदन के जन-जीवन को देखिए. मधु, मैं यह मानती हूँ कि लेखकों के लिए यात्राएं, ज़रूरी हैं, वह अपने फ़्लैट से बाहर निकले, उसे निकलना चाहिए लेकिन अपने अनुभवों में इज़ाफ़ा करने के लिए न कि सिर्फ़ सैर-सपाटे के लिये.

● आपके उपन्यास 'आवां' को सहस्राब्दि का प्रथम 'अंतर्राष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान' लंदन में मिला, तब आपको कैसा महसूस हुआ?

जब तेजेंद्र शर्मा ने मुझे लंदन से सूचना दी कि मेरे उपन्यास 'आवां' को सहस्राब्दि का प्रथम 'अंतर्राष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान' लंदन में दिया जा रहा है तो मुझे बहुत खुशी हुई। खुशी इसलिए हुई कि यह प्रायोजित नहीं था। सबसे ज्यादा खुशी तब हुई जब गिरीश कर्नाड ने कहा कि 'आवां' जैसा उपन्यास कन्नड़ में भी होना चाहिए। यह पहली खुशी थी। तुम्हें एक बात बताती हूँ मधु, कि जब इस उपन्यास का 'कथा यूके' ने चुनाव किया तब राजेंद्र यादव ने 'कथादेश' पत्रिका में कहा था कि लहड़ भाषा में लिखा गया उपन्यास और इतना भारी-भरकम है कि कौन इसे पढ़ेगा? वही राजेंद्र यादव 'आउटलुक' पत्रिका के लिए अजय नावरिया को इंटरव्यू देते हुए कहते हैं कि 'आवां' एक दस्तावेज़ी उपन्यास है और चित्रा के पात्र कभी समझौते के लिए राजी नहीं होते। मधु, 'आवां' असमिया, पंजाबी, मराठी, कन्नड़,

बंगला, तेलुगु, मलयालम में अनूदित हो चुका है। हाल में ही तमिलनाडु से भारतीय भाषाओं के लिए आरंभ किया गया 'चिनप भारती सम्मान' का पहला सम्मान हिंदी के अनेक उपन्यासों के बीच में से 'आवां' को दिया गया। हिंदी की किसी कृति को प्रथम सम्मान का श्रेय 'आवां' को प्राप्त हुआ। मेरे इस उपन्यास का इतनी भाषाओं में अनुवाद हुआ है, ढेर सारे सम्मान और पुरस्कार मिले हैं, इसका सारा श्रेय 'कथा यूके' को जाता है। मेरे लिए तो 'कथा यूके' एक तरह के शगुन की तरह रहा है।

बी-१०५, वर्धमान एपार्टमेंट्स,
मयूर विहार, फेज-१, दिल्ली-११००९१,
फ़ो : ९८७३१२३२३७

मधु अरोड़ा

ए-१/१०१, रिद्धी गार्डन, फ़िल्मी सिटी रोड,
मालाड (पू.), मुंबई-४०००९४,
फ़ो : ९८३३९५९२९६

लघुकथा

लोकतंत्र

सीताराम गुप्ता

झंड के झंड लोग गांव के स्कूल की ओर जा रहे थे। बच्चे ने मां से पूछा कि मां ये सब लोग कहाँ जा रहे हैं? मां ने बताया कि ये सब लोग वोट डालने जा रहे हैं। "वोट डालने से क्या होगा मां?" बच्चे ने पूछा। मां ने कहा वोट डालने से मुखिया का चुनाव होगा। जब बच्चे ने पूछा कि मां हर बार इन्हीं को मुखिया चुनने के लिए वोट क्यों डालते हैं तो मां ने कहा कि मुझे नहीं पता।

कुछ दिनों बाद बच्चे ने मां से फिर पूछा, "मां ये जो हमारे गांव के मुखिया हैं इनकी मौत के बाद गांव का मुखिया कौन बनेगा?" मां ने कहा कि सीधी सी बात है कि मुखिया की मौत के बाद उसका बेटा मुखिया बनेगा। बच्चे ने इसके बाद फिर पूछा, "मुखिया के बेटे की मौत के बाद फिर मुखिया कौन बनेगा?" मां ने तनिक झंझलाते हुए कहा, "अरे सभी जानते हैं उसकी मौत के बाद उसका बेटा मुखिया बनेगा।" "यदि उसकी भी मौत हो गयी तो फिर मुखिया कौन बनेगा?" बच्चे ने एक बार फिर जिज्ञासा व्यक्त की। "उसके बाद कोई भी मुखिया बने पर एक बात ध्यान से सुन ले कि तेरा नंबर कहीं नहीं है", मां ने इस बार बच्चे को थोड़ा समझाने के लहजे में कहा।

"जब मुखिया का बेटा ही अगला मुखिया बनना है तो ये वोट क्यों डाले जाते हैं?" बच्चे ने अगला सवाल दाम दिया। इस बार मां चुप थी क्योंकि इस प्रश्न का कोई उत्तर उसके पास था ही नहीं।

पास खड़े एक समझदार व्यक्ति ने जो मां-बेटे की बातचीत सुन रहा था बच्चे को अपने पास बुलाया और कहा, "बच्चे हमारा देश दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है इसलिए हर मुखिया का चुनाव लोगों के वोटों द्वारा ही किया जाता है। महत्त्वपूर्ण यह नहीं कि कौन मुखिया बनता है बल्कि महत्त्वपूर्ण यह है कि मुखिया का चुनाव कैसे किया जाता है। यदि वोट नहीं डालेंगे तो प्रजातंत्र का अर्थ ही क्या रह जायेगा? लोकतंत्र की रक्षा के लिए लोगों का वोट डालना बहुत ज़रूरी है।"

ए.डी.-१०६-सी, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४.

कथाबिंब/ जनवरी-मार्च २०११ | ३९ |



सशक्त लेखनी का साधक और दुर्लभ व्यक्तित्व का मसीहा : श्री वेद राही

✍ सविता बजाज

(साहित्य और फ़िल्म का चोली दामन का साथ है. हमारे विशेष अनुरोध पर जानी मानी फ़िल्म, टी.वी., मंच कलाकारा व पत्रकार सुश्री सविता बजाज 'कथाबिंब' के लिए चलचित्र जगत से संबद्ध साहित्यकारों के साथ बिताये क्षणों को संस्मरण के रूप में प्रस्तुत कर रही हैं. अगले अंकों में पढ़िए सुदर्शन फाकिर, गोपाल शर्मा आदि के बारे में.)

उम्र बढ़ने के साथ-साथ मैं साहित्य से भी जुड़ती गयी और बड़े-बड़े नामी-गिरामी लेखकों की रचनाएं मेरे मानस पर छाती गयीं. पर पता नहीं क्यों मैं एक महान लेखक को तब क्यों नहीं पढ़ पायी जिनकी दिल्ली के रवींद्र भवन में स्थित साहित्य नाटक अकादमी के एक बड़े से हाल में बड़ी-बड़ी फ़ोटो लगी थी. तब वहां मैं नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा की छात्र थी. हो सकता है मैं तब अमृता प्रीतम की दीवानी तो थी जिनसे मैं अक्सर मिलती और वह प्रायः इमरोज़ के साथ होतीं और हम खूब बतियाते.

वक्त ने पलटी मारी और मैं मुंबई चली आयी. यहां आने पर ही मैंने वेद जी को जाना. इनकी किताबें पढ़ीं और इनके सीरियलों में काम किया जैसे, 'जिंदगी' और 'गुल, गुलशन-गुलफाम'. सीधे-सादे सरल व्यक्तित्व के धनी मगर सशक्त लेखनी के मालिक बात करते तो लगता कोई मसीहा बोल रहा हो. उनकी वाणी आपके भीतर, बहुत भीतर तक जाती है जैसे कोई तपस्वी बरसों साधना करने के बाद अपनी गुफा से बाहर निकला हो.

मुंबई में दूरदर्शन के लिए बहुत सारी रचनाएं गढ़ने के बाद पता नहीं वेद जी क्यों सीरियल छोड़ फिल्म 'वीर सावरकर' में जुट गये. फ़िल्म तो खूब चली. हां, कभी कभी आपका नाम किसी फ़िल्मी कहानी में दिखता तो कभी संवाद में. हां इनकी लिखीं पुस्तकों की खूब चर्चा होती, पुरस्कार मिलते. दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद होता.

हाल ही में इनकी लिखी एक अनमोल किताब पढ़ी - 'अंधी सुरंग'. मैं तो साहब इसे पढ़ने के बाद

कितने दिनों तक सो ही नहीं पायी. हथौड़े की तरह चोट करती है दिमाग पर. लेकिन यह सोचकर हाय - औरत ने जन्म दिया मर्दों को, मर्दों ने उसे क्या दिया, बर्बादी. क्या सुंदर होना गुनाह



है. शायद ऐसा ही है. सच कहती हूं ऐसी किताब जो मेरे भीतर बहुत गहराई तक चुभन पैदा करती रही. रुलाती रही, मैंने आज तक नहीं पढ़ी थी. लगा लेखक मानो आंखों देखा हाल बयां कर रहा हो.

एक दिन मुझसे रहा नहीं गया फ़ोन किया - 'वेद जी मैं सविता बोल रही हूं. आपसे जल्द मिलना है.'

'हां मैं भी मिलना चाहता हूं. आपने कहा था असंवेदी हो गयी हैं जीवन के प्रति. मैं तो कहता हूं माइनस हो जाओ. न्यूट्रल होना फ़र्स्ट स्टेज है. इसी विषय पर अपनी लिखी एक किताब 'लल दयद' एक लड़की की कहानी आपको भेंट करूंगा, आ जाइए.'

मेरी जिंदगी में वह स्वर्णिम समय आया जब मैं इस महान लेखक, रचनाकार वेद राही जी के घर इनके सम्मुख बैठी अनमोल पलों का आनंद उठा रही थी.

'सर जी, आपकी पर्सनैलिटी ही ऐसी है कि दूर से कोई भी जान ले कि आप उच्च कोटि के लेखक हैं. आपकी आवाज़ का जादू, चेहरे के हाव-भाव, ठहर-ठहर कर, सोच कर बोलना कमाल की अदायगी जैसी है. आपके पांव छूने को जी चाह रहा है. क्या मैं....' जैसे ही मैं वेद जी के पांव छूने को झुकी, बोले....'बस बस! आप भी तो सशक्त अदाकारा हैं. उठिए.'

‘आपकी बहुत सारी किताबें स्कूल कॉलेज के कोर्सों में लगी हैं। कोई एम. ए. में तो कोई पोस्ट ग्रेजुएट में. अलग-अलग भाषाओं में अनुवाद भी हुए. बहुत सारे अवॉर्ड भी आपको मिले. यह सब कैसे मुमकिन हुआ?’

‘घर का माहौल ही लिखने पढ़ने का था. वहीं से ऐसे संस्कार मिले. मैं १९३३ में कश्मीर में ही पैदा हुआ. पिता श्री मुल्क राज सराफ़ अपने स्वयं का प्रेस चलाते थे और कश्मीरी भाषा में एक न्यूज पेपर भी निकालते थे, जो बहुत चलता था. मैं भी छोटी उम्र से ही लिखने लगा. कभी डोगरी भाषा में कविता लिखता तो कभी हिंदी या उर्दू में. कहानियां भी छपती रहीं और मुझमें लेखन का उत्साह भी बढ़ता गया. सरकारी नौकरी भी कर ली. लेकिन मन को चैन न था. लिहाजा १९६० में सपरिवार मुंबई चला आया. बंबई आने पर आटे-दाल का भाव मालूम हुआ. मैं रामानंद सागर जी के साथ जुड़ गया. उनके लिए फ़िल्म लिखता और असिस्ट भी करता. ‘पवित्र पापी’, ‘पराया धन’, ‘चरस’, ‘सन्यासी’, ‘पहचान’, ‘कठपुतली’ जैसी पचासों फ़िल्में लिखी और निर्देशन भी किया. जैसे ‘प्रेम पर्वत’, ‘काली घटा’, ‘दरार’, ‘नादानियां’, वगैरह.’

‘आपके सीरियल ज़िंदगी’ और ‘गुल गुलशन गुलफ़ाम’ ने इतिहास रचा. सच कहूं तो सिने विष्टा की नाँव आपने रखी, ‘गुल, गुलशन...’ से सिने विष्टा को ऊंचा मुकाम दिलाया. लेकिन उसके बाद शायद आप कहीं चले गये क्या, दिखाई ही नहीं दिये?’

‘नहीं सविता मैं कहीं नहीं गया. चैनलों का ज़माना आ गया, मैं कम्प्रोमाइज नहीं कर सकता. मेरे और प्रेम किशन (सिने विष्टा का मालिक) के जीवन में एक ऐसा समय आया जब हम दोनों को एक दूसरे की ज़रूरत ही नहीं रही और हम अलग हो गये.

‘खाली समय में क्या करते हैं?’

‘मैं कभी खाली बैठ ही नहीं सकता. जब मेरी एक आध फ़िल्म नहीं चली तो मैंने फ़िल्मों के बारे में ज्यादा पढ़ा. फेस्टीवल में जाकर फ़िल्में देखीं. लिखता रहा. एक फ़िल्म नक्सलवादियों पर लिखी. ‘अंधी सुरंग’ जो आपने अब पढ़ी, दूरदर्शन के लिए बनानी है.’



२२ मई १९३३, जम्मू.

शुरू में आकाशवाणी (जम्मू) में नौकरी (१९५५-५८). तत्पश्चात, चार वर्षों तक जम्मू एवं कश्मीर सरकार के सूचना विभाग में मासिक ‘योजना’ के संपादक रहे. बाद में लंबे अर्से तक, मुंबई में श्री रामानंद सागर के साथ सहायक लेखक व निर्देशक रहे. २०००-२००२ के दौरान सेंसर बोर्ड के सदस्य. फ़िल्म राइटर्स एसोसिएशन के सचिव (२००२-२००८).

डोगरी, हिंदी व उर्दू में निरंतर कविता-कहानी संग्रहों व उपन्यासों का प्रकाशन. लगभग २५ पुस्तकें प्रकाशित.

अनेक फ़िल्मों का लेखन व निर्देशन (दरार, प्रेम पर्वत, काली घटा, नादानियां, वीर सावरकर, पवित्र पापी, पराया धन, यह रात फिर न आयेगी, पहचान आदि...)

हिंदी, डोगरी व उर्दू के अनेक वृत्तचित्रों का निर्देशन व लेखन. दूरदर्शन के लिए कई टी.वी.सारियलों का निर्देशन एवं लेखन.

अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित व पुरस्कृत.

✉ ५०६, नीता अपार्टमेंट्स,
सेजल पार्क, गोरेगांव (प.), मुंबई-४००१०४.
फ़ो : ९८६९९०३७९५

वेद जी शायद बोल कर थक गये थे, चुप होकर कुछ सोचने लगे. मैंने उनकी चुप्पी तोड़ी. ‘सर जी, कोई इच्छा बाकी बची है.’

‘नहीं, मेरी इच्छा है कि कोई इच्छा न हो. सहज लाइफ़ तो चलती रहेगी. इच्छाएं तो घुमड़ती रहती हैं. उससे बचना चाहिए. कोई इच्छा मत करो? कह कर

कथाबिंब/ जनवरी-मार्च २०११ ॥४१॥

कविताएं

संतोष कुमार तिवारी

काश, अपनी टिहरी बचा पाते!

एक भरा-पूरा शहर
जो ज़मीन पर बसकर
बतियाता था क्षितिज से,
अब वहां सिर्फ
गुज़रे वक़्त की यादें हैं
हज़ार यादें
झरोख़े हज़ार
जो कल तक खुलते थे
अपनों की तरफ
बंद हो गये
हमेशा-हमेशा के लिए,
अब कबूतर के जोड़े
छतों पर बैठ
न ख़ुजला सकेंगे पांख
आवाज़ कुचों, बिल्लियों के ठीठे
जलमग्न हैं।
कैसा भयानक मंजर था
आंखों के सामने
अपनी टिहरी को डूबते-उतरते देखा
तिल-तिल डूबते
डूबती टिहरी के साथ
अंदर ही अंदर
तिल-तिल मरा भी।

काश, ऐसा होता...

काश, ऐसा होता...
कंधे का बोझ बांट लेते
और दे देते
थोड़ी सहूलियत
जो मुझे अपना कहते
नहीं थकते.
काश, ऐसा होता...
मुर्दनी में शामिल लोग
न मारते गप्पें
सीख लेते
मुर्दे से शांत रहना
मर जाते ख़ुद भी
(थोड़ा सा सही)
किसी कोने में,
काश, ऐसा होता...
खा-पीकर पचा लेती मां
उमर भर का गुस्सा
पिता भुला बैठते
चालीसों साल पुरानी रंजिश
और पांचों भाई मिलकर
ढूंढ़ ही लेते
बहन के लिए
कोई अच्छा सा लड़का.

राजकीय इंटर कॉलेज,
ढिकुली, रामनगर, जि. नैनीताल-२४४७१५

आप उठे और अपनी अवाई विनिंग पुस्तक 'लल दयद' की एक प्रति मुझे दे बोले- 'यह आपको बहुत पसंद आयेगी.'

मैं वेद जी का ढेर सारा स्नेह और आशीर्वाद अपनी झोली में समेट लौट आयी।

'लल दयद' पढ़ने के बाद नायिका लल मेरे भीतर बहुत गहराई तक समाती गयी। क्योंकि लगा मुझमें

और लल में कई बातें मेल खाती हैं। शायद इसीलिए वेद जी ने कहा था- 'जिंदगी के प्रति न्यूट्रल होना फ़र्स्ट स्टेज है, माईनस हो जाओ सविता.'

पो. बॉक्स-१९७४३, जयराज नगर,
बोरिवली (प.), मुंबई-४०००९१
फ़ोन : ९२२३२०६३५६

कथाबिंब/ जनवरी-मार्च २०११ ॥४२॥



पुस्तक-समीक्षा

त्रासद जीवन परिवेश की कहानियां

डॉ. शिवनारायण

खूटे से समाधि तक (क.-सं.) : डॉ. निरुपमा राय
प्रकाशक : नमन प्रकाशन, दिल्ली-११०००२;
मू. २००/- रु.

बिहार से जिन महिला लेखिकाओं ने बीते वर्षों में अपनी धारदार कहानियों से पूरे हिंदी प्रदेश में अपनी पहचान बनायी है, उनमें कोसी कछार की निरुपमा राय एक महत्वपूर्ण शिखर हैं। निरुपमा राय की कहानियों में समय, संस्कृति और श्रम का रसायन एक ऐसा सक्रिय भावलोक निर्मित करता है, जहां पाठक अपनी निजता के मोह से मुक्तकथा के चरित्र एवं परिवेश में संतरण करने में आनंद प्राप्त करता है। बिहार की क्षेत्रीय संस्कृतियों को वहां की श्रमशील जनता के जीवन-संघर्ष से ऊर्जा मिलती है। इसकी बानगी देखनी हो तो निरुपमा राय की कहानियों में डुबकी लगानी चाहिए। इन कहानियों में जीवन का अकेलापन है। आदमी के टूटते-छीजते जाने की पीड़ा है। सामाजिक जीवन के छद्म हैं, व्यवस्था से संघर्ष है, बेहतर कल के सपने हैं, सामान्य एवं विशिष्ट जन का अंतर है और है इन सबके साथ आम आदमी की जिजीविषा तथा अस्तित्व रक्षा की चिंता।

समीक्ष्य कहानी-संग्रह में कुल जमा सत्तरह कहानियां हैं। इनमें पहली कहानी है 'आकृति', जिसमें विलुप्त होती लोक कला और कलाकारों की पीड़ा है। कलाकारों के संत्रास को निरुपमा ने जिस जीवंतता से चित्रित किया है, वह प्रभावकारी है। कठफोड़वा नाच दिखानेवाला सोमरा न चाहते हुए भी अपने पिता की विरासत संभालता है, लेकिन आधुनिक फ़िल्मी गानों और डांस ने उसके तालबद्ध नृत्य और पौराणिक गाथाओं की ऐसी कड़ी चुनौती पेश की जिसमें सोमरा के सारे सपने बिखर गये।

आम आदमी के सपनों के बनने और बिगड़ने की ऐसी ही कहानी है 'कुदाल'। दिनभर कड़ी धूप में कमरतोड़

मेहनत करनेवाला दैनिक मजदूर का एक मासूम-सा सपना है कि उसका भी अपना एक कुदाल हो। कुदाल वाले मजूरे की मांग अधिक है और उसकी मजदूरी भी। किसी तरह कर्ज लेकर वह कुदाल खरीद भी लेता है, लेकिन उसकी चोरी हो जाती है। अब वह अपनी दिहाड़ी से कुछ रुपये इकट्ठा करना चाहता है, लेकिन कभी टूटे, छप्पर की मरम्मत तो कभी मुझे का बुखार, कभी सीता का फटा कुरता तो कभी मुनिया के दस्त। इनसे फुरसत मिली तो लगातार बढ़ती महंगाई और बड़ा परिवार उसके कुदाल खरीदने के अरमान को रौंदता चला जाता है। आज़ादी के तिरपन साल हो गये और सोमरा जैसे मजदूर आज भी कुदाल तक नहीं खरीद पाते, समय और समाज की इस त्रासदी की करुण गाथा है 'कुदाल'। संग्रह में एक कहानी है 'जनता दरबार', जिसमें नेताओं की घोषणा और अधिकारियों के आश्वासन से दम तोड़ते आम आदमी के सपने का जीवंत चित्रण है। इस कहानी में यह संवाद वर्तमान समय का एक त्रासद आख्यान व्यक्त करता है- 'जीवन की हर उमंग से विरत राजाराम कई दिनों से लगातार प्रतिदिन समाहरणालय की सीढ़ियां आशा और विश्वास की बैसाखियों के सहारे चढ़ता और मिथ्या आश्वासनों की कच्ची-संकरी पगडंडी से उतरता।' दरअसल विकलांग राजाराम पांच सौ रुपये कर्ज में लेकर राजधानी के मुख्यमंत्री के जनता दरबार में जा पहुंचता है। उसके मन में पल रही उमंगों के फूल तब खिल उठते हैं जब मुख्यमंत्री ने साथ खड़े एक अधिकारी को निर्देश दिया कि इस विकलांग व्यक्ति को शीघ्रताशीघ्र इसके गृह जिले में ही कोई नौकरी देने की व्यवस्था त्वरित गति से की जाये। मुख्यमंत्री का यह आदेश लालफीताशाही वाली बर्बर व्यवस्था में कहां विलोपित हो जाता है, किसी को पता नहीं चलता।

'कुछ नहीं बदलेगा' भी ऐसी ही एक कहानी है। इस कहानी में एक गरीब वृद्ध विधवा धनिया का नाम वार्ड पार्श्व वृद्धावस्था पेंशन लाभार्थियों की सूची में इसलिए नहीं डालता क्योंकि वह विधवा इस काम के बतौर घूस सौ रुपये उन्हें नहीं दे सकती। धनिया महसूस करती है कि पंचायती राज गरीबों को राहत पहुंचाने के लिए नहीं बल्कि कुछ खास लोगों को कालाबाजारी और ठेकेदारी का लाइसेंस देने के लिए है। भ्रष्टाचार में आकंठ डूबी शासन-व्यवस्था में आम आदमी की विवशता

को दर्शाती यह कहानी वास्तव में देश के हर गांव की कहानी है।

विश्व आर्थिक उदारीकरण के वर्तमान दौर में पीढ़ियों की सोच में काफ़ी बदलाव आ गया है। धन के वर्चस्व ने रिश्ते की संवेदना को भूलुंठित कर दिया है। आज बाज़ार तमाम रिश्तों पर हावी है। लेखिका ने इस बदलाव को बहुत बेहतर तरीके से 'अब नहीं फलेगा काला पहाड़' में चिन्हित करते हुए त्रासद परिवेश का चित्रण किया है। धन के लिए पीढ़ियों से संचित-संचित स्नेह, विश्वास, आस्था, परंपराएं और रिश्तों की संवेदनाएं हरिनंदन बाबू के घर में धूल-धूसरित हो गयीं, जिसे उनके पुरखों ने आस्था और श्रम के खाद-पानी से ऊर्वर बनाया, पल्लवित-पुष्पित किया और भावी पीढ़ियों की सुख-शांति के जाने कितने यत्न किये। उनका सारा यत्न उनकी ही अगली पीढ़ी ने महज पैसों के लोभ में धूल में मिला दिया। इसी तरह की एक और कहानी 'ओखली का भाग्य' भी है। कहते हैं गरीबी, लाचारी और अभाव तीनों में अपनापा होता है। गरीब आदमी अभाव की मार से आहत होकर लाचारी के रिसते हुए नासूर को जीने के लिए अभिशप्त होता है। दो जून रोटी की चिंता ही उसके तमाम सुखों को लील जाती है। उसके लिए सुख का अर्थ ही बदल जाता है। भले ही रोज कूटने के लिए परिवार में धान के लाले पड़े हों लेकिन ओखल तो उन्हें चाहिए ही। कई दिनों के स्त्री-पुरुष झगड़े के बाद आखिरकार ओखली के चार टुकड़े हुए। बंटवारे के बाद घर में शांति थी। ओखली चार टुकड़ों में बंटने के बाद ईंधन के रूप में चार चूल्हों में जल रही थी। उनमें रिश्ते तो खत्म हो ही गये, तमाम संबंध भी ओखली की तरह ईर्ष्या और द्वेष की कुल्हाड़ी से कटकर अपने तमाम स्वरूप खो देते हैं।

समीक्ष्य संग्रह में आपसी रिश्तों और कुंद पड़ती संवेदनाओं का पोस्टमार्टम करती दो और कहानियां हैं, 'ये सपना क्यों नहीं टूटता' और 'खूटे से समाधि तक'। अभाव में जीती ज़िंदगियों के लिए रिश्ते और उससे निःसृत अपनेपन का कोई महत्त्व नहीं होता। कोसी कछार के जीवन-संघर्ष और सामाजिक विस्तार को समेटती इन कहानियों में आंचलिकता की खुशबू है, भूख की तड़प है, कुछ न कर पाने की विवशता है।

कथा लेखिका ने अपने आसपास के परिवेश में पल रही विसंगतियों को अपनी पैनी नज़र से खंगालते

हुए उस यथार्थ को पकड़ने की कोशिश की है जिनसे सामाजिक समरसता के सूत्र तो बिखरते ही हैं, पूरी व्यवस्था को जर्जर बनाने की साजिशें भी रची जाती हैं। रेणु की मिट्टी में रचनाशीलता की उर्वरता निरुपमा राय जैसी लेखिकाओं के कारण ही शेष है। उनकी कहानियां यदि ग्रामीण परिवेश की त्रासदी का चित्रण करती हुई हुक्मरानों के खोखले दावों की पोल खोलती हैं तो मानना होगा कि ऐसी ही कहानियों के सहारे अपने समय की मानविकी तैयार की जा सकती है। सयासत: 'खूटे से समाधि तक' की कहानियां बिहार के कोसी कछार में फैले जीवन-परिवेश की जो छवियां प्रस्तुत करती हैं, वह समयकाल का त्रासद यथार्थ है। यही यथार्थ पूरे हिंदी समाज का भी है। कथाकार रेणु ने उस क्षेत्र के जिस यथार्थ से परिचित कराया था, उसका विकास निरुपमा राय की कहानियों में दिखता है, गो कि भाषा-भूषा और कथा-कहन की तकनीक जरूर उनसे भिन्न है।

✍ ३०५, अमन अपार्टमेंट,
शांति निकेतन कॉलोनी,
भूतनाथ रोड, पटना-८०००२६.

स्त्री विमर्श पर एक खुला दस्तावेज़

✍ सुमीता केशव

मुझे जन्म दो मां (ले.स.) : संतोष श्रीवास्तव
प्रकाशन : सामयिक प्रकाशन, ३३२०-२१ जटवाड़ा,
दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२, मू. ३९५/- रु.

लेखिका संतोष श्रीवास्तव की सद्यः प्रकाशित किताब 'मुझे जन्म दो मां' का शीर्षक पढ़कर यूं लगा आखिर एक बच्ची अपनी मां से ऐसा मासूम सा सवाल क्यों कर रही है। वे कौन से कारण हैं जब एक मां अपनी ही प्रतिकृति अपनी बेटी को जन्म देना नहीं चाह रही है। 'मुझे जन्म दो मां' पढ़कर इसका उत्तर स्वयं ही मिल जाता है। आज हम जिस मजबूत स्थिति में खड़े हैं उसकी नींव में कई महिलाओं की दर्दनाक चीख, पुकार और शोषण के किस्से दबे पड़े हुए हैं। यह खेद की बात है कि हम अपने ही दायरे में खड़े होकर केवल उतना ही देखना चाहते हैं जितने की जरूरत हो। आज

भी औरत की स्थिति जस की तस है.

अपनी अन्य किताबों से अलग हटकर इस किताब में लेखिका का पत्रकार कौशल खुलकर सक्रिय हुआ है. ऐसे तो पूरी किताब में जितने भी लेख हैं वे उल्लेखनीय हैं. यह किताब अपने आप में स्त्री के साथ हुई वीभत्स और भयानक घटनाओं का सही तथ्य और कथ्य के साथ एक खुला हुआ दस्तावेज है. भ्रूण हत्या पर दिल दहला देने वाली हकीकत को जिस संवेदनशीलता के साथ उतारा है वह मार्मिक है. बर्नाड नेथेनसन द्वारा भ्रूण हत्या पर बनायी गयी फ़िल्म 'साईलेंट स्क्रिम' में नन्हीं मासूम गुड़िया मां के गर्भ में विभिन्न औजारों से खुद को बचाने की जुगत में मां की कोख की दीवारों से लिपट-लिपट जाती थी और यह दिखाया गया था किस प्रकार उस औजार द्वारा बच्ची के कमर, पैर और हाथ के टुकड़े किये जा रहे थे. बच्ची को मुंह खोलकर चीखने का प्रयत्न करते हुए देखना. इस नग्न सत्य को पढ़ते-पढ़ते आंखें भर आयीं. वह तड़प में स्वयं में महसूस करने लगी.

इसी तरह लेखिका ने सही आंकड़ों के साथ यह साबित किया है कि दुनिया भर में ६६ फ़ीसदी महिलाएं अशिक्षित हैं. यही वजह है कि महिलाएं अब तक जागरूक नहीं हो पायी हैं. ग़रीबी, अशिक्षा के चलते बाल विवाह आज भी कायम हैं.

लेखिका ने हमारे समाज में बाल विधवा और विधवाओं को लेकर जो चौंकाने वाले तथ्य उजागर किये हैं वे धर्म के ठेकेदारों के मुंह पर एक करारा तमाचा हैं और हमारी लचर प्रशासन व्यवस्था पर सवालिया निशान हैं. प्रस्तुता रिपोर्ट के अनुसार वृंदावन वाराणसी की विधवाएं पंडों, महंतों और मठाधीशों की हवस का शिकार हो रही हैं. मठों और मंदिरों में भोग के पश्चात प्रभु शयन करते हैं और ये दासियां चटाई बन बिछ-बिछ जाती हैं. और फिर क्रीड़ा में मस्त हो जाते हैं इन दासियों के रखवाले. कितना घृणित कितना कुत्सित है ऐसा सोचना भी. लोगों की आस्था के साथ खिलवाड़ करने वालों के खिलाफ़ सरकार अब तक चुप है यह एक सोचनीय विषय है. इसके साथ ही लेखिका ने दुनिया भर की विधवाओं पर भी शोध कार्य किया है. 'लुंबा ट्रस्ट' और 'वियांड द एलेवेंथ' नामक संस्थाओं के बारे में काफ़ी रोचक और ज़रूरी जानकारियां पेश की हैं.

सती प्रथा के विषय में लेखिका ने जिन-जिन घटनाओं का जिक्र किया है वे रोंगटे खड़े कर देने वाली हैं. अमेरिका के हवाई द्वीप समूह में रहने वाले आदिवासी पॉलीनीशियन में भी पति की मृत्यु के बाद पत्नी को भी उसी के साथ जीवित जला दिया जाता है. और ताज़्ज़ुब यह कि आज भी यह परंपरा अमेरिका जैसे विकसित देश में जीवित है. हर जगह हर काल में औरतों की यही दुर्दशा हुई है. सती को अफ़ीम का नशा खिलाकर चिता पर बैठा देना फिर कनस्तरों घी उसके ऊपर उड़ेल देना, भागने की कोशिश में नुकीले बांस से उन्हें कोंच-कोंच कर चिता में ढकेल देना. यह लोमहर्षक दृष्य कोई सिनेमा नहीं सत्य घटना पर आधारित मंजर है.

पितृसत्ता और मनु स्मृति को लेकर भी लेखिका ने बहुत ही विचारोत्तेजक बातें लिखी हैं. याग्यवल्क्य, गौतम, विद्वान ऋषि मुनियों, कात्यायन, बृहस्पति ने पुरुषों को स्त्रियों से दूर रहने की सलाह दी थी और इसके अनेक कारण बताये. लेखिका ने इस कथन को लेकर जो मत सामने रखे वे साहसिक हैं. उनके अनुसार गौतम ऋषि ने स्वयं अपनी गोद खेती दत्तक पुत्री अहिल्या के साथ विवाह रचाया और फिर अहिल्या को ही इंद्र के साथ संबंध रखने पर शाप दे दिया जबकि इंद्र ने वेश धारण कर अहिल्या को छला था. तो क्या दोष था अहिल्या का? वहीं लेखिका ने बहुत ही निर्भीकता के साथ ययाति, गालव, विश्वामित्र जैसे बड़े-बड़े तपस्वी जनों के दुराचरण के किस्सों को लिखा है.

प्राचीन काल में औरतों की मातृसत्ता पर लेखिका ने बहुत ही अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया है कि उस वक्त कुंती पुत्र को कौंतेय और कृष्ण को देवकी नंदन नाम से जाना जाता था. लेकिन उत्तर वैदिक काल से पितृसत्ता की जड़ें गहरी जमती चली गयीं तो स्त्री के दुर्भाग्य काल का उदय भी होता चला गया. फ़ैशन जगत हो या विज्ञापन की दुनिया लेखिका ने औरतों की स्थिति को बखूबी खंगाला है. औरतों के उत्पीड़न ने सभी हदें पार कर ली हैं. परिवार के अंदर पत्नियों की अदला-बदली, चार भाईयों के साथ एक पत्नी, ससुर जेठ के बीच एक स्त्री ही पिसती रही है. लेखिका ने 'वाईफ़ स्वेपिंग' जैसे उच्च घरानों में होने वाले गेम पर

भी खुलकर लिखा है। लेखिका ने बड़ी ही गहराई से समाज के हर पहलू का मंथन किया है। मीडिया, टी.वी. चैनल हों या कोई भी उच्च क्षेत्र हर जगह स्त्री की दुर्गत ही हुई है। यह बात भी अपने आप में कम हास्यास्पद नहीं कि महाराष्ट्र के गवर्नर के ए. डी. सी. के खिलाफ अपनी पत्नी को प्रताड़ित करने का मामला सामने आया है। जबकि उनकी पत्नी आई. ए. एस. अधिकारी हैं। जब इतने बड़े पद पर आसीन महिला का यह हाल है तो सोचिए आम महिला का क्या होगा?

हिंदू जगत हो या मुस्लिम जगत, लेखिका ने दोनों ही समाज की महिलाओं पर हुई घरेलू हिंसा पर अपनी पैनी दृष्टि डालते हुए बेबाकी से लिखा है। लेखिका की इस बात पर तारीफ़ करना अतिशयोक्ति न होगी जब उन्होंने तुलसीदास द्वारा लिखित 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी ये सब ताड़न के अधिकारी' इस दोहे की शुद्ध रूप से व्याख्या की है वह सराहनीय है। इस दोहे की जानकारी न होने से इसे ग़लत अर्थों में लिया जाता है और महिलाओं पर फ़ब्तियां कसी जाती हैं। जबकि ताड़न के क्या-क्या अर्थ हैं यह लेखिका ने बख़ूबी समझाया है। ऐसा नहीं कि महिलाओं की बदतर स्थिति का ही लेखिका ने जिक्र किया हो बल्कि उन महिलाओं के उदाहरण भी पेश किये हैं जो राजनीति, मीडिया, साहित्य, फ़ैशन, फ़िल्म, साइंस, टेक्नोलाजी, शिक्षा और व्यापार के क्षेत्र में उच्च पदों पर आसीन हैं। लेकिन यहां वे यह कहने से भी नहीं कतराती कि केवल कुछ औरतों के विकास को विकास कहना महज लफ़्फ़ाजी होगी। उन्होंने औरतों के खिलाफ़ चल रहे षड़यंत्र में शास्त्रों से लेकर आज के शासन को तक नहीं बख़्शा है। यहां लेखिका ख़िन्न हैं कि उपभोक्ता संस्कृति ने औरतों को फिर वही ला पटका है जहां से वे उबरना चाहती थीं। कई संस्थाएं औरतों के लिए काम कर रही हैं लेकिन महिलाओं का कहीं उद्धार होते नहीं दिखता। इस बाबत लेखिका ने कड़वी सच्चाई उजागर की है उनके अनुसार गैर सरकारी संस्थाएं औरतों के हक के लिए उन्हें संगठित करने के स्थान पर उंगली पकड़कर चलाती हैं ताकि वे खुद फल-फूल सकें।

विश्व भर में औरतों की मंडी के बारे में सनसनीखेज़ जानकारीयां आत्मा को झिंझोड़ कर रख देती हैं। अमेरिका,

फ़िलीपिंस, श्रीलंका, बांगलादेश, पाकिस्तान, सिंध, नेपाल में औरतों का व्यापार धड़ल्ले से हो रहा है। आदिवासी औरतों की ज़िल्लत भरी ज़िंदगी में नज़र डालें तो औरत होने पर दुःख होने लगता है। नीलामी के लिए लाइन से बेटियां सज-धज कर खड़ी रहती हैं, इस पेशे में कॉर्पोरेट कल्चर की सहभागिता को लेखिका ने प्रमाण के साथ पेश किया है कि यहां डील, पैकेज, मेंबरशिप, डिस्कॉउंट और रहने-खाने की सुविधा के साथ स्पैनिश, चाइनीज़, रशियन भोजन की भी सुविधा है। दस हजार ज़मा करने पर तीन महीने की सदस्यता भी मिल जाती है। सबसे चौंकाने वाली बात तो यह है कि जब लेखिका प्रमाण के साथ इतने आंकड़े जुटा पाती हैं तो पुलिस के हाथों ये जिस्म के दलाल क्यों नहीं लग पाते? खाड़ी देशों की विधवा औरतों को अपने बच्चों के एडमिशन के लिए इस घिनौने धंधे को मजबूरी में अपना पड़ रहा है। आदिवासी महिलाओं के बारे में लेखिका ने उल्लेख ही नहीं किया अपितु वे उनके बीच जाकर रहीं और तमाम उन बातों का रहस्योदघाटन अपनी क़लम द्वारा किया जो दिल दहला देने वाली हैं। ग़रीबी के कारण गिरवी रख देना, संपत्ति हड़पने की मंशा में डायन घोषित कर देना, धार्मिक वेश्याएं बना देना, पुलिस द्वारा दमन और बलात्कार का भी लेखिका ने जिक्र किया है। दलित औरतों की व्यथा भी कम दारुण नहीं। सरपंच के पद पर बैठकर भी वह सुरक्षित नहीं। सामूहिक बलात्कार की शिकार दलित सरपंच उर्मिला की कहानी रोंगटे खड़े कर देने वाली है। दलितों के उत्थान के लिए बने हुए एजेंडे सरकारी झोलों में ही बंद रह गये हैं।

इस्लामी औरतों के बारे में लेखिका ने अपनी जो राय व्यक्त की है उससे मैं सहमत हूं। उनके अनुसार वहां की लेखिकाओं ने सही में कठमुल्लाओं की नींद उड़ा दी है। भारतीय लेखिकाओं की अपेक्षा उनमें इतनी हिम्मत है कि वे सच्चाई उजागर कर सकें। तस्लीमा नसरीन आज भी देश-देश अपनी जान बचाने भटक रही है। मुख्तारन माई का क्रिस्सा आज भी हरेक की जुबां पर है। लेखिका की हिम्मत की दाद देनी पड़ेगी कि वे यह कहने से भी नहीं चूकती हैं कि धर्म ने हमें क्या दिया? आखिरकार वह भी औरत के खिलाफ़ ही

रहा. इस पर उन्होंने हिंदुओं के पूज्य देवता कृष्ण को भी कटघरे में ला खड़ा कर दिया है.

नेपाल में देवी प्रथा और येल्लमा देवी की कहानी भी झकझोर देने वाली है. तीन हजार कन्याएं हर साल येल्लमा देवी को समर्पित होती हैं और सरकार को खबर ही नहीं! पैतृक संपत्ति को लेकर जो कानून में संशोधन हुए उन पर अमल नहीं हो पा रहा है. इस पर लेखिका ने बेबाकी से जो रोचक उदाहरण पेश किये हैं वे सराहनीय हैं. संपत्ति में विधवाओं को हक न मिले इसका समाधान समाज में अनेक कुरीतियों को भरकर पूरा कर दिया गया है. समाज का विकास केवल बेटियों को सुशिक्षित करने से ही हो सकेगा लेखिका ने इस बात की घोर पैरवी के साथ काफ़ी ज्ञानवर्धक जानकारियां दी हैं. इतिहास की छात्रा रह चुकीं लेखिका ने कई ऐसी बातों से अवगत कराया है जो शायद कम ही लोगों को मालूम हैं. उनके अनुसार जब भारत परतंत्र था तब भारतीय मूल की महिलाओं को मजदूरी के लिए मारीशस, सूरीनाम आदि द्वीपों में भेजते थे. उस वक्त मजदूरी में त्रिनिनाड गयी महिला जिसने कसम खायी कि वह अंग्रेजों के खिलाफ़ लड़ेगी और औरतों की शक्ति संगठित करेगी. उसीका नतीजा है कि इसी खानदान की तीसरी पीढ़ी वहां की संसद के अध्यक्ष पद तक जा पहुंची है. यही नहीं वह त्रिनिनाड की पहली महिला सांसद भारतीय मूल की ही हैं.

विश्वभर में प्राचीन काल के युद्ध से लेकर अब तक के युद्ध के विस्मितकारी घटनाक्रम को लेखिका ने समुचित तथ्यों के साथ ज्यों का त्यों रखा है. इस किताब में जो भी महत्वपूर्ण जानकारियां हैं वे अपने आप में एक सभ्य समाज की घृणित तस्वीरों का खुला दस्तावेज़ है.

लेखिका ने समाज के उस पक्ष को नग्न किया है जो औरत को भोग्या समझते हैं. सीमा सुरक्षा बल हो या पुलिसिया सितम, आम पंचायत हो, नाबालिग के साथ बलात्कार हो या आधुनिक कल्चर की महिला के साथ बलात्कार हो आखिर भुक्तभोगी महिला ही हैं. रोम, ग्रीक में नाबालिग कन्याओं पर यौन दुराचार बकायदा मंच पर होना विस्मित करता है. मिस्र में भाई-बहन, पिता-पुत्री के बीच यौन संबंधों के खुलासे शर्मसार

करते हैं. पूरे विश्व भर से जुटाये गये आंकड़े सोचने पर मजबूर कर देते हैं कि सभ्य समाज के कहलाने वाले हम लोग कौन सी दुनिया में जी रहे हैं. जबकि यह सत्य है कि यौन शोषण हमारे घर से ही शुरू होता है. 'औरतें सिर्फ़ प्रजनन के लिए होती हैं यौन सुख के लिए नहीं' इस चैप्टर में लेखिका ने बेधड़क होकर कई ऐसे-ऐसे राज खोले हैं जो पैरों तले ज़मीन खिसका देते हैं. 'सुन्नत' प्रक्रिया के तहत लड़कियों पर जो घृणित कार्रवाई होती है वह किसी शैतानियत से कम नहीं.

जेल विभाग में रह रही महिला कैदियों की भीषण दुर्दशा और उनके साथ रह रहे छोटे-छोटे बच्चों की त्रासदी का मार्मिक वर्णन भी इस किताब में दर्शाया गया है. और तो और जेल में होने वाले पुलिसिया यौन शोषण का दुखांत वर्णन कलेजा चीर कर रख देता है. महिलाओं की इज़्जत के मापदंड को लेकर लेखिका ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण उदाहरण पेश किया है. उनके अनुसार बलात्कार के नाम पर औरत की इज़्जत कैसे जुड़ गयी? अगर वह बलात्कारी दरिंदा समलैंगिक हुआ. ऐसे बलात्कार आजकल सुनने में भी आ रहे हैं. तो निश्चय ही उसका शिकार पुरुष होगा. तब क्या ऐसा कहा जा सकेगा कि फलां पुरुष की इज़्जत लूट ली गयी? वह तो इस दरिंदगी को अप्राकृतिक यौनाचार कहेगा?

लेखिका की दृष्टि सिलसिलेवार महिला अत्याचारों के घटनाक्रम को पैनेपन से गहरे तक भेदती और उकेर देती है. जस की तस व्यथाओं को अपनी लेखनी द्वारा. लेखिका ने अपनी शाब्दिक अभिव्यक्ति से खुलकर कई ऐसे शर्मसार कर देने वाले वाक्ये बयां करके सरकार को खुली चुनौती दी है. महज सवाल ही नहीं उठाती यह किताब बल्कि उन स्थितियों को भी सामने रखती है जो बदलते समय ने स्त्री को दी हैं. निश्चय ही यह किताब न केवल पाठिकाओं को बल्कि उन पाठकों को भी समृद्ध करेगी जो परंपरा के बहाव से हटकर विचार करना चाहते हैं और स्त्री को अपने बराबर देखना चाहते हैं.

✍ २२०४, क्रिमसन टावर,
आकुर्ली रोड, लोखंडवाला कॉम्प्लेक्स,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई-४००१०१,

कुछ दूर रेत पर चलकर देखिए

डॉ. ब्रह्मजीत गौतम

‘कुछ दूर रेत पर चलकर’ : डॉ. वरुण कुमार तिवारी

प्रकाशक : नमन प्रकाशन, नयी दिल्ली-११००२

मू.: १५०/- रु.

छंदहीन कविता कभी मेरी पसंद की प्राथमिकता का बायस नहीं बनी. हो सकता है इसका कारण मेरे ये संस्कार हों कि वह कविता ही क्या, जिसमें कोई अनुशासन न हो. न छंद का, न लय का, न यति का, न गति का. जो अति बौद्धिकता, गद्यात्मकता, दुरूह प्रतीकों और अस्पष्ट बिंबों से बोझिल हो. जो आम जन की बात तो करे, किंतु उसकी समझ से कोसों दूर हो. इसके विपरीत मैं इस सत्य से भी वाकिफ हूँ कि छंद ही कविता की एकमात्र कसौटी नहीं है. छंद तो एक पात्र है, जिसके अंदर कविता रहती है, जैसे गिलास में पानी. वह पानी गिलास के बजाय किसी लोटा, घड़ा, कुंआ, तालाब या गड्ढे में भी हो सकता है. तो मुख्य चीज पानी है, न कि वह पात्र, जिसके अंदर वह रखा है, बशर्ते वह आपकी प्यास बुझा सकता हो, आपको तृप्त कर सकता हो. यही बात कविता के संदर्भ में भी कही जा सकती है. वह एक वाक्य में भी हो सकती है और कभी-कभी तो एक शब्द में भी.

कवि वरुण कुमार तिवारी अपनी कविताओं में ऐसे समाज की सृष्टि करते हैं, जो ज़िंदगी के सच पर आधारित है. लेकिन इस सच के साथ वे सौंदर्य-दृष्टि का भी समायोजन करते हैं, क्योंकि जीवन को उसके संपूर्ण सौंदर्य में देखने और उसे फिर-फिर रचने का नाम ही कविता है. इसके साथ ही कविता का दूसरा सच यह है कि वह ‘पर’ से जुड़ी हो, उसके दर्द को विस्तार देती हो. यह तभी संभव है, जब पीड़ा को उसको रचनात्मक संवेदन में देखा जाय. कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि वरुण कुमार ने अपनी अधिसंख्य रचनाओं में इस दर्द और पीड़ा की अनुभूति की है और इसी कारण वे ‘पर’ से भी जुड़ सके हैं. साक्ष्य के तौर पर ‘नहीं मिलेगा आकाश’, ‘बदलती आंखों की रोशनी में’, ‘कुछ दूर रेत पर चलकर’, ‘इस यातना शिविर में’, ‘चक्रव्यूह में’ आदि कितनी ही कविताओं के शीर्षक गिनाये जा सकते हैं.

कवि श्री तिवारी की संवेदना का फलक बहुत व्यापक और विस्तृत है. उनके पास विषयों की कमी नहीं है, जिसमें आदमी, समय, गांव, महानगर, भूख, कोसी की बाढ़, चांदनी में छत पर सोयी लड़की, रिश्ते, प्रगति, अंधेरा, बच्चे, व्यवस्था और अन्याय का प्रतिरोध, चांद, सूरज, बादल, हवा, पुरानी स्मृतियां और सब कुछ है, जो हमारी ज़िंदगी का हिस्सा हैं, और सबसे अधिक, वैश्वीकरण तथा बाज़ारवाद की वह विभीषिका, जिसे आज हर आदमी झेलने के लिए अभिशप्त है. लेकिन केवल कन्टेंट्स की विविधता होने से कोई कविता या कविता-संग्रह सराहना का हकदार नहीं हो जाता. ज़रूरी यह है कि उन कन्टेंट्स को सलीकेदार कहने के साथ अभिव्यक्त किया जाय. डॉ. तिवारी कदाचित इस रहस्य से वाकिफ हैं, अतः अपनी बात को खूबसूरत अंदाज में रखने की कोशिश करते हैं, ताकि वह पाठक या श्रोता के हृदय में काफी देर तक गूँजती रहे. यथा संग्रह के शीर्षक ‘कुछ दूर रेत पर चलकर’ कविता की पंक्तियां -

अपनी/आखिरी मुद्रा में लड़की/ होना चाहती है
नदी/पहुंचना चाहती है / समंदर तक/ लेकिन कुछ दूर
रेत पर चलकर/ रेत में ही/ क्यों सूख जाती है/लड़की?

ये पंक्तियां न केवल आज के कन्या विरोधी वातावरण को प्रस्तुत करती हैं, अपितु हमें सोचने को विवश भी करती हैं.

कवि डॉ. तिवारी बड़ी नफ़ासत के साथ कविता लिखते हैं और बिना किसी पूर्वाग्रह के उसे अपनी स्वाभाविक परिणति तक पहुंचने देते हैं. उसे रचनेवाले शब्द न तो ग़ैर ज़रूरी होते हैं और न मुखौटा लगाये हुए. यह स्वाभाविकता ही उन्हें और उनकी कविता को दूसरों से अलग करती है, अन्यथा क्या वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण और बाज़ारवादी अर्थ-व्यवस्था पर आधारित आज की संस्कृति का इतना बड़ा सत्य, इतनी सहजता से अभिव्यक्त किया जा सकता है...

मेरी प्यारी धरती/हवाओं नदियों/हरे भरे खेत/
छिप जाओ/ किसी अंधेरी गुफा में/बताओ/ कैसे बचाओगे/
अब अपनी विरासत/ और संस्कृति/ इस वैश्वीकरण/
और भूमंडलीकरण के युग में/ और पत्थरों के/ इस
जंगल को/कैसे कहोगे संस्कृति?... हो रहे हैं हम/
आतंकित, विज्ञापित/ नग्नता में स्थापित / और कोरे
कागज़ में/ ले रही है आकार/ अश्लीलता की अपसंस्कृति/
फिर बोलो बंधु/ कैसे कहोगे इसे संस्कृति?

लघुकथा

दर्द का अहसास

डॉ. वासुदेवन 'शेष'

रोज शाम ढलते ही रात के प्रथम पहर में सड़क के फुटपाथ पर पुरानी पत्रिकाओं तथा साहित्यिक किताबों की दुकान लगती थी।

उस फुटपाथ का किताब विक्रेता दुकान में रद्दी में आनेवाली पत्रिकाओं तथा किताबों को बहुत ही कम दामों में बेचा करता था।

एक दिन सड़क के फुटपाथ पर चलते-चलते अचानक मेरी निगाह फुटपाथ पर बिछी किताबों, पत्रिकाओं पर पड़ी तो मेरे कदम रुक गये। मैंने एक किताब उठायी, उसे उलटा-पलटा, खोल कर देखा।

दुकानदार ने मुझे मुस्कुराकर देखा और कहा - 'इस किताब का कवर थोड़ा गंदा हो गया है साब! पर इसकी अच्छी प्रतियां भी हैं।' यह कहकर दुकानदार ने लड़के को ज़ोर की आवाज़ लगायी। 'मुझे उस कोने में इसकी तीन प्रतियां रखी हैं. उठा लाना.'

लड़के ने मुझे किताब लाकर दी। मैं सभी को खोल-खोल कर देखने लगा। मेरी आंखें भर आयीं। अश्रुओं की धारा किताब के पन्नों पर गिर पड़ी। दुकानदार ने मेरे चेहरे के भाव पढ़े। उसने उत्सुकता से पूछा - 'क्या हो गया साब! आप दुःखी क्यों हो गये?'

नहीं-नहीं कुछ नहीं। कहते हुए मैं वहां से चल दिया। ये दो कृतियां थीं जो मैंने अपने परिचितों-परिजनों को भेंट स्वरूप दी थीं। जिस कृति के कारण मुझे

कविता अपने रचनाकार के व्यक्तित्व और सोच का आईना होती है। किसी व्यक्ति का स्थूल पता तो कोई भी दे सकता है, किंतु यदि उसके अंदर के कवि या रचनाकार से मिलना हो तो उसकी रचनाओं से गुजरना आवश्यक है। वरुण तिवारी के कवि से रु-ब-रू होने के लिए, उनकी संवेदनशीलता और आंतरिक पीड़ा को समझने के लिए 'कुछ दूर रेत पर चलकर' देखिए। ये

गज़ल

रमेश प्रसून

आंखों में आंसुओं की मानिंद रह रहा है,
क्यों साथ मेरे इतने वू दर्द सह रहा है।

गिरकर न उठ सकेगा शायद यह सोच कर ही,
कुछ कोर में पलक की रुक-रुक के बह रहा है।

कहना जो चाहता हूं लेता है बिन सुने-सुन,
मैं चुप रहूं तो लगता कुछ चुप वो कह रहा है।

दरिया में दिल के उठती लहरों से टक्करें खा,
रेती के ढूँह सा क्या रह-रह के बह रहा है।

मुझको पता नहीं खुद कैसे तुझे बताऊं,
क्यों बह रहा हूं मैं यूँ क्या मुझमें बह रहा है।

दरबार में खड़ा था तब तो झुका-झुका था,
बाहर खड़ा जो खुद को खुद कह रहा है।

तुम खोल कर दरीचे देखो 'प्रसून' दिल के,
खुशबू से फूल क्या-क्या हंस-हंस के कह रहा है।

✍ ४/७५, सिविल लाइंस,
टेलीफोन केंद्र के पीछे,
बुलंदशहर-२०३००१ (उ.प्र.)

पुरस्कृत/सम्मानित किया गया था। मैं अपने दर्द को छिपा न पाया। दुकानदार भी जैसे मेरे दर्द को भांप गया था।

✍ जी-४, अक्षया फ़्लैट्स,
५५ इरुसप्पा स्ट्रीट, ट्रिप्लीकेन, चैन्ने-६००००५

आपको उनकी आत्मा तक ले जायेंगी। संवेदना को जो घनत्व इस संग्रह की इकसठ कविताओं में है, वह अन्यत्र शायद ही मिले। साहित्य-जगह में इस संग्रह का भरपूर स्वागत होगा, यह विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है।

✍ बी-८५, मिनाल रेजीडेंसी,
जे.के.रोड, भोपाल-४६२०२३

कथाबिंब/ जनवरी-मार्च २०११ ॥४९॥

कविता

दक्षिण-पूर्वी देशों के नाम भारत का पैगाम

✍ श्याम गोइन्का

सुनो मेरे पड़ोसियों!
सुनो मेरे अपनों!
मेरा और तुम्हारा
युग युगांतर का नाता है.
जानता विधाता है.
जो कुछ मुझे विरासत ने दिया
जो कुछ मुझे तथागत ने दिया
वह मैंने अपनी गुदड़ी में
छिपाकर नहीं रखा.
गुदड़ी के साटे लाल मैंने
छितरा दिये
इधर-उधर,
यहां-वहां,
न जाने, कहां-कहां?
यह जो लालिमा की आभा
तुम्हारे चेहरे पर चहक रही है.
यह जो गुलाबी सौंध
तुम्हारी अट्टिया में महक रही है.
वह मुझे जोड़ती है तुझमें.
मेरा अपनापन झलकता है तुझमें.
आओ उस ममत्व की,
आओ उस अपनत्व की
साया में सक होकर,
दूरत्व का पाप धोकर,
हठधर्म छोड़ दें
धर्म अपना लें
सक हो जायें
मैं तुझे ध्याऊं.
तू मुझे ध्याये.

✍ १९८, 'मधुकुंज', ७वां क्रॉस,
९वां मेन रोड, आर.एम.बी.एक्सटेंशन,
सदाशिवनगर, बेंगलूरु-५६००८०

लघुकथा

स्थानांतरण

✍ वी. गोविंद शेनाय

सुतलप्या मास्टर अपने एक मित्र से मिलने अस्पताल गये थे जहां जनरल वार्ड में अवकाश प्राप्त निदेशक सुज्ञान जी भी दिखाई दिये. निस्पंद से पड़े थे खाट पर. उनकी पत्नी साथ थीं. पता लगा डॉक्टर ने घर ले जाने को कहा है, ताकि अपनों के साथ रहे. यही अब शेष रह गया है. ... काम के नहीं रह गये हैं. एंबुलेंस की व्यवस्था की गयी है. पुत्र ने अमरीका से आने का वादा किया है और पुत्री भरसक आर्थिक सहायता करने की बात करके चल दी है. दोनों व्यस्त जो हैं. कुछ हो गया तो वे अवश्य आ जायेंगे.

सुज्ञानजी को रिटायर हुए अब तीन साल हो गये हैं. सुतलप्या मास्टर सुज्ञान जी से उनके सेवा काल में सत्रह बार मिले हैं. अपने शहर में स्थानांतरण का निवेदन किया था.... करते ही रहे थे लगातार. सुज्ञानजी से ढंग से मिलना उन्हें आता नहीं था, उसकी आर्थिक सामर्थ्य भी उनमें नहीं थी. अतः उन्हें अन्य शहरों में भटकते रहना पड़ा. अब उनको रिटायर होने में मात्र छः महीने रह गये हैं.'

एंबुलेंस आयी. सुतलप्या मास्टर ने सुज्ञानजी को एंबुलेंस तक ले जाने में मदद की. वे उनके साथ उनके घर भी गये. सुज्ञानजी अर्धचेतन स्थिति में थे. इस पर भी मास्टर को पहचाना. पूछा - 'आपका स्थानांतरण हो गया. अपने शहर में?' मास्टर के मुंह से निकल पड़ा - 'नहीं हुआ, ज़रूरी भी नहीं है. मेरी पत्नी अब नहीं रही.'

✍ सौभाग्या, ओल्लूक्करा,
पो. त्रिचूर-६८०६५५ (केरल)

कथा (यूके)

१७ वां अंतर्राष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान

पत्रकार, कथाकार श्री विकास कुमार झा,
को उनके उपन्यास 'मैकलुस्कीगुंज' पर,
तथा

वर्ष २०११ के लिए पद्मानंद साहित्य सम्मान लेस्टर निवासी कथाकार एवं ग़ज़लकार
नीना पॉल को उनके उपन्यास 'तलाश' पर दिया जायेगा.
दोनों पुरस्कार २७ जून २०११ को लंदन के 'हॉउस ऑफ कॉमन्स' में आयोजित समारोह
में प्रदान किये जायेंगे.

ईमेल : kathauk@gmail.com

प्रथम प्रज्ञा कहानी पुरस्कार- २०११

प्रज्ञा प्रकाशन, रायबरेली के सौजन्य से 'प्रथम प्रज्ञा कहानी पुरस्कार-२०११' का आयोजन किया जा रहा है. इसमें निम्नलिखित नकद पुरस्कार प्रदान किये जायेंगे :-

प्रथम पुरस्कार - रु. ५,०००, द्वितीय पुरस्कार - रु. ३०००, तृतीय पुरस्कार- रु. २००० पांच सांत्वना पुरस्कार- रु. १००० प्रत्येक

लेखकों से अनुरोध है कि वे अपनी मौलिक, अप्रकाशित एवं अप्रसारित कहानी की दो प्रतियां सुंदर हस्तलिपि में या टंकित करवा कर ३०.९.२०११ तक निम्न पते पर भिजवाने का कष्ट करें:-

प्रज्ञा प्रकाशन (प्राची मासिक)

२४, जगदीशपुरम् लखनऊ मार्ग, निकट त्रिपुला चौराहा, रायबरेली-२२९३१६ (उ.प्र.)

एक लेखक अधिकतम दो कहानियां भेज सकता है. लिफाफे के ऊपर प्रथम प्रज्ञा कहानी पुरस्कार-२०११ अवश्य लिखें. पुरस्कृत कहानियों पर निर्णय तीन गणमान्य लेखकों की समिति करेगी. पुरस्कारों की घोषणा दिसंबर २०११ में की जायेगी. ये कहानियां प्राची के जनवरी या फरवरी २०११ अंक में प्रकाशित होंगी तथा पुरस्कार जनवरी २०१२ में किसी नियत तिथि को एक समारोह में सभी पुरस्कार विजेताओं को प्रदान किये जायेंगे. इसकी सूचना व्यक्तिगत रूप से विजेताओं को दी जायेगी.

कथाबिंब/ जनवरी-मार्च २०११ ।।५१।।

“कमलेश्वर स्मृति कथा पुरस्कार-२०१०”

“कथाबिंब” के प्रकाशन का यह ३३वां वर्ष है. एक अभिनव प्रयोग के तहत प्रतिवर्ष पत्रिका में प्रकाशित कहानियों को पुरस्कृत करने का उपक्रम हमने प्रारंभ किया हुआ है. पाठकों के अभिमतों के आधार पर वर्ष २०१० के “कथाबिंब” के अंकों में प्रकाशित कहानियों का श्रेष्ठता क्रम निम्नवत रहा. सभी पुरस्कार विजेताओं को बधाई ! विजेता यदि चाहें तो इस राशि में से या तो वे स्वयं “कथाबिंब” की आजीवन या त्रैवार्षिक सदस्यता ग्रहण कर सकते हैं अथवा अपने किसी मित्र/परिचित को सदस्यता भेंट कर सकते हैं. कृपया इस संदर्भ में शीघ्र सूचित करें. हम अत्यंत आभारी होंगे.

: सर्वश्रेष्ठ कहानी (१००० रु.):

● एक और एकलव्य - पुष्पी सिंह

: श्रेष्ठ कहानी (७५० रु.):

● फंदा क्यों ... ? - डॉ. सुधा ओम ठींगरा ● चूल्हे की रोटी - सुरेंद्र अंतल

: उत्तम कहानी (५०० रु.):

● सरहद के पार - डॉ. संदीप अवरथी ● समर्पण - जसविंदर शर्मा

● इज्जत के रखवाले - डॉ. पद्मा शर्मा ● कर्जा-वसूली - रमेश यादव

● “सड़ियां निकस गये ...” - डॉ. वासुदेव

फॉर्म-४

समाचार पत्र पंजीयन केंद्रीय कानून १९५६ के आठवें नियम के अंतर्गत “कथाबिंब” त्रैमासिक पत्रिका से संबंधित स्वामित्व और अन्य बातों का विवरण :

- | | |
|--|---|
| १. प्रकाशन का स्थान | : आर्ट होम, शांताराम सालुंके मार्ग,
घोड़पदेव, मुंबई - ४०० ०३३. |
| २. प्रकाशन की आवृत्ति | : त्रैमासिक |
| ३. मुद्रक का नाम | : मंजुश्री |
| ४. राष्ट्रीयता | : भारतीय |
| ५. संपादक का नाम, राष्ट्रीयता एवं पूरा पता | : उपर्युक्त, ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८. |
| ६. कुल पूंजी का एक प्रतिशत से अधिक शेयर
वाले भागीदारों का नाम व पता | : स्वत्वाधिकारी - मंजुश्री |

मैं, मंजुश्री घोषित करती हूँ कि मेरी जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त सभी विवरण सत्य हैं.

(हस्ताक्षर - मंजुश्री)